ॐ

श्रीगीता-योग-प्रकाश

卐

महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज

अखिल भारतीय संतमत-सत्संग-प्रकाशन

महर्षि मेँहीँ-पदावली

प्रकाशक एवं प्राप्ति-स्थान

अखिल भारतीय संतमत-सत्संग-प्रकाशन-समिति

महर्षि मेँहीँ आश्रम, कुप्पाघाट,
भागलपुर-३ (बिहार)

*

सर्वाधिकार सुरक्षित

दशम संस्करण : ३,१०० प्रतियाँ (वि० २०५९ सं०)
एकादश संस्करण : ३,१०० प्रतियाँ (वि० २०६५ सं०)

मूल्य–२० रुपये मात्र

: मुद्रक :
शान्ति-सन्देश प्रेस
महर्षि मेँहीँ आश्रम, कुप्पाघाट,
भागलपुर-३ (बिहार)

प्रकाशकीय

श्रीमद्भगवद्गीता का सत्य मूल सम्भवतः बहत्तर श्लोकी गीता ही हो, किन्तु सप्त शत श्लोकी गीता ने भी विश्व की अनेक भाषाओं के साहित्यों में जो महत्त्वपूर्ण स्थान पाया है, उसकी समकक्षता की पंक्ति में एक भी साहित्य नहीं। गीताज्ञान के उद्गाता भगवान श्रीकृष्ण के ज्ञान में किसी भाँति की कमी थी, ऐसा कथन अति अश्रद्धेय है, किसी भाँति विश्वास-योग्य नहीं। इसलिए मानव-मात्र के कल्याण हेतु अत्यन्त और अनिवार्य आवश्यकता थी कि किसी पूर्ण समाधि-लब्ध महापुरुष की दिव्य वाणी के द्वारा भारत की राष्ट्रभाषा 'भारती' में इसकी अनुभव-पूर्ण व्याख्या अभिलेखित हो।

इस अभिपूर्ति की दिशा में अ० भा० सन्तमत-सत्संग-प्रकाशन का यह शान्त-स्वच्छ प्रयत्न है। गीता-ज्ञान के बौद्धिक व्याख्याकारों-द्वारा यदि कहीं इसके शुभ्रतम प्रकाश में अज्ञान-तमस् का प्रवेश हुआ हो, तो अवश्य ही 'श्रीगीता-योग-प्रकाश' की अनुभूत वाणी द्वारा उसका संहरण होगा; इसी अविचल विश्वास के द्वारा यह प्रकाशन-कार्य अनुप्राणित है। यह एकादश संस्करण 'शान्ति-सन्देश प्रेस', महर्षि मेँहीँ आश्रम, कुप्पाघाट, भागलपुर-३ (बिहार) से ही प्रकाशित हुआ है, जहाँ नित्य प्रति सन्तवाणियों की निर्मल ज्ञान-वृष्टि हो रही है और होती ही रहती है; इस आध्यात्मिक महारस के केन्द्र हैं—संतमत के अद्यतन आचार्य महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज।

विजया दशमी — अ० भा० सन्तमत-सत्संग-प्रकाशन-समिति

संवत् २०६५ वि०

महर्षिजी का परिचय

'श्रीगीता-योग-प्रकाश' के लेखक महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज हैं। इस जगतीतल पर आपका अवतरण वि० सं०, १९४१, वैशाख शुक्ल चतुर्दशी तदनुसार सन् १८८४ ई० को बिहार प्रान्त स्थित सहरसा मण्डलान्तर्गत (अब मधेपुरा जिला) उदाकिशुनगंज थाने के खोखशी श्याम ग्राम में अपने मातामह के यहाँ हुआ था। आपका पितृगृह पुरैनियाँ मण्डलान्तर्गत ग्राम सिकलीगढ़ धरहरा में है। आपके पूज्य पिता कायस्थ कुलभूषण स्वर्गीय बाबू बबुजन लाल दासजी थे। आपका जन्मराशि पर का नाम श्रीरामानुग्रह लाल दासजी था।

कहावत है–'होनहार बिरवान के होत चीकने पात।' आपमें जन्मजात योगी के चिह्न विद्यमान थे। शैशवावस्था से ही आपके सिर में सात जटाएँ थीं। वे प्रतिदिन कंघी से सुलझा दिए जाने पर भी पुनः प्रातःकाल अनायास सात जटाएँ ही बन आती थीं।

चार वर्ष की अवस्था में ही आपकी पूज्या माताजी इस असार संसार को त्यागकर परलोक सिधार गईं। पाँच वर्ष की अवस्था में कुल-पुरोहित-द्वारा आपका विधिवत् मुण्डन-संस्कार सम्पन्न होने के पश्चात् आपकी प्राथमिक शिक्षा का शुभारम्भ अपने ग्राम में ही हुआ। आपकी शिक्षा का आरम्भ कैथी लिपि में हुआ, फिर भी प्रारम्भिक शिक्षा समाप्त करते-करते आपने दिव्य प्रतिभा के कारण अल्प काल में ही नागरी लिपि भी सीख ली और आप ग्यारह वर्ष की अवस्था में पुरैनियाँ जिला स्कूल में विद्याध्ययन के लिए भर्त्ती कराए गए। वहाँ विद्याध्ययन-काल में आपकी अभिरुचि आध्यात्मिक ग्रन्थों के अध्ययन एवं पूजा-ध्यान की ओर अधिकाधिक बढ़ती गई।

सन् १९०४ ई० की ४ जुलाई को आप प्रवेशिका परीक्षा दे रहे थे। उस दिन अँग्रेजी की परीक्षा थी। प्रश्नपत्र का प्रथम प्रश्न था–'Quote from memory the poem 'Builders' and explain it in your own English' अर्थात् 'निर्माणकर्ता' शीर्षक पद्य को अपने स्मरण से लिखकर उसकी व्याख्या करो।

आपने 'निर्माणकर्ता' शीर्षक कविता का प्रथम छन्द लिखकर उसकी विशद व्याख्या की। उसका समासरूप निम्नलिखित है–

'For the structure that we raise;
Time is with material's field,
Our to-days and yesterdays;
Are the blocks with which we build.'

'हमलोगों का जीवन-मन्दिर अपने प्रतिदिन के सुकर्म वा कुकर्म रूपी ईंटों से बनता वा बिगड़ता है। जो जैसा कर्म करता है, उसका वैसा ही जीवन बनता है। इसलिए हमलोगों को भगवद्-भजन-रूपी सर्वश्रेष्ठ ईंटों से अपने जीवन-मन्दिर की दिवाल का निर्माण करते जाना चाहिए। ''''समय की सदुपयोगिता सत्कर्म में है और ईश्वर-भक्ति वा भजन से श्रेष्ठतम और कोई भी सत्कर्म नहीं है।''''

इस भाँति अध्यात्मपूर्ण हृदयोद्गारों को अभिव्यक्त करते हुए अन्त में आपने लिखा–

देह धरे कर यहि फल भाई। भजिय राम सब काम बिहाई।।

यह उत्तर लिखते-लिखते आप भाव-विह्वल हो अपने संवेग का संवरण न कर सके और आपने निरीक्षक (Invigilator) से कहा–'May I go out, Sir ?'–महाशय! क्या मैं बाहर जा सकता हूँ? संरक्षक महोदय आपके मनोभाव को परख न सके

और उन्होंने आपको बाहर जाने की अनुमति दे दी।

बस क्या था? जैसे नदी का बाँध टूटने पर जलधारा अबाध रूप से अग्रसर होती है, वैसे ही आप परीक्षा-निरीक्षक महोदय का आदेश पा तीव्र और उत्कट आध्यात्मिक अन्तःप्रेरणा से प्रेरित हो विद्यालय का परित्याग कर साधु-सन्तों की खोज में निकल पड़े। सन्तों के दर्शन सहज नहीं। पहाड़ों और अरण्यों में भटकने पर अपार कष्ट तो हुए, किन्तु सन्तों के दर्शन नहीं हुए।

अपने गृहस्थ-जीवन से सुदूर—ब्रह्मचर्य-जीवन को ही पसन्द किया, अतएव आपने विवाह नहीं किया। सत्रह वर्ष की अवस्था में आप दरियापंथ के साधु बाबा रामानन्द स्वामी से दीक्षित होकर मानस जप, मानस ध्यान और खुले नेत्र से त्राटक का अभ्यास करने लगे। निष्ठापूर्वक वर्षों आपने इसकी साधना की। फिर भी अध्यात्म-ज्ञान की पूर्णता की पिपासा बनी रही। जब उन गुरू महाराज से आपकी जिज्ञासाओं का समाधान नहीं हुआ, तब आप किसी दूसरे पहुँचे हुए साधु-सन्त की खोज करने लगे। वर्षों की खोज-ढूँढ़ के पश्चात् सन् १९०९ ई० में आपका सन्तमत-साधना से परिचय हुआ और उत्तर प्रदेशान्तर्गत मुरादाबाद-निवासी परम संत बाबा देवी साहब के शिष्य स्वर्गीय बाबू राजेन्द्रनाथ सिंहजी महोदय (मायागंज, भागलपुर, बिहार) से आपने दृष्टि-साधन की युक्ति (भेद) प्राप्त की। उसी वर्ष भागलपुर में ही आपको परम सन्त बाबा देवी साहबजी का दिव्य दर्शन और पूर्ण समाधानकारी प्रवचन सुनने का सुअवसर भी प्राप्त हुआ। इस शुभ दर्शन और प्रवचन से आपको शान्ति और तृप्ति का बोध हुआ। तत्पश्चात् आपको सद्गुरु के साथ सत्संग और उनकी सेवा करने के सुअवसर भी प्राप्त होते रहे। आप प्रति वर्ष बिहार से मुरादाबाद (उत्तर प्रदेश) जाते और उनकी

यथायोग्य सेवा करते। आपकी सेवा-भक्ति से प्रसन्न होकर सन् १९१४ ई० में बाबा देवी साहब ने आपको नादानु-सन्धान—सुरतशब्दयोग की साधना भी बतला दी और कहा—'अभी दस वर्ष पर्यन्त तुम मात्र दृष्टियोग का अभ्यास करो। मैंने बत्तीस वर्ष तक केवल दृष्टियोग का अभ्यास किया है। दृष्टियोग-अभ्यास में मजबूत हूए बिना शब्द-साधना करना ठीक नहीं है। यह अभी तुमको इसलिए बतला दिया कि यह तुम्हारी जानकारी में रहे, परन्तु इसका अभ्यास अभी नहीं करना।'

इन साधनाओं का नित्य नियमित अभ्यास आप वर्षों एकान्तवासी बन गुफा में बैठकर बड़ी निष्ठा से करते रहे हैं। सन् १९३३-३४ ई० में अठारह महीने तक भागलपुर के कुप्पाघाट की गंगा पुलिनस्थ शान्त सुपावन गुहा में बैठकर आपने दृढ़ ध्यानाभ्यास किया। इसी पुण्य स्थल ने आज महर्षि मेँहीँ आश्रम (कुप्पाघाट, भागलपुर) के नाम से तीर्थत्व प्राप्त कर लिया है, जहाँ सहस्त्रों नर-नारी एकत्र होकर योग, ज्ञान और भक्ति की मन्दाकिनी में अवगाहन कर कल्याण-पथ के पथिक बन अपना मानव-जीवन कृतार्थ करते हैं।

सन् १९५७ ई० में आपकी एक प्रचछन्न शक्ति-भरी वाणी आविर्भूत हुई—'लोगों को चाहिए कि कुप्पाघाट में भी एक स्मारक बनवा दें।' जिसने सन् १९६० ई० से क्रियात्मक रूप धारण किया और आज वह वाणी अखिल भारतीय सन्तमत-सत्संग के केन्द्र-रूप में परिणत हो 'महर्षि मेँहीँ आश्रम' के नाम से प्रख्यात हो रही है।

प्रथम यहाँ की गुफा पर ताड़-पत्ते की छाजन देकर कुछ दिन निवास हुआ, फिर फूस की कुटिया बनी, पर सम्प्रति विशालकाय सन्तमत-सत्संग-मंदिर, महर्षि-कुटीर एवं विभिन्न

साधकों द्वारा निर्मित कई साधना-कुटीर गंगा की धारा जैसे प्रज्वलित हो रहे हैं। आज यहाँ महर्षिजी-रचित सभी पुस्तकों का प्रकाशन-कार्य भी शान्ति-सन्देश-प्रेस द्वारा सम्पन्न हो रहा है। महर्षिजी के वर्तमान निवास से तो यह भूमि मानो सन्त-साधना से प्रक्षालित हो अपनी पवित्रता की किरणों को चतुर्दिक बिखेर रही है। इसलिए यह स्थान दर्शनीय भी हो गया है।

सम्प्रति यद्यपि आपको योगांगों को पूर्ण कर योगबल-प्राप्त्यर्थ योगाभ्यास करना नहीं है, फिर भी आपके अनुसरण-द्वारा लोकपथ कल्याणमय हो, इसी दृष्टि को अपनाए रखकर आज भी आप इन साधनाओं को सुगम्भीर एवं सुनिर्मल निष्ठा के साथ अविरल, अविश्रांत रूप से कर रहे हैं। आपने इन साधनाओं द्वारा केवल अपने ही मोक्ष का पथ प्रशस्त किया हो, सो नही अपितु मनुष्य-जाति के लिए चिर-अवरूद्ध मोक्ष-मार्ग खोल दिया है। इसलिए तो आपका उद्घोष है–'जितने मनुष-तनधारि हैं, प्रभु भक्ति कर सकते सभी।' तथा 'मानस जप, मानस-ध्यान, दृष्टि-साधन और सुरत-शब्दयोग-द्वारा सर्वेश्वर की भक्ति करके अन्धकार, प्रकाश और शब्द के प्राकृतिक तीनों परदों से पार जाना और सर्वेश्वर से एकता का ज्ञान प्राप्त करके मोक्ष पा लेने का मनुष्य-मात्र अधिकारी है।' (महर्षि मेँहीँ-पदावली)

आपके प्रचार का क्षेत्र विशेषकर देहात रहा है। आपने समाज के असंख्य पीड़ित, पद-दलित, शोषित एवं अशिक्षित मनुष्यों में अपनी साधना का प्रचार किया है। एक दिन आपके मुख से दयार्द्र वाणी उच्छ्वसित हो उठी थी–'जिसको कोई पूछनेवाला नहीं है अर्थात् जिसको कोई आदर की दृष्टि से नहीं देखता है, ऐसे आदमी जब दीक्षा पाने के लिए मेरे पास आते हैं, तो उन्हें दीक्षा देने में मुझे बड़ी प्रसन्नता होती है।' रेलवे स्टेशन

से चालीस-चालीस मील दूर देहात में, जहाँ यातायात का साधन मात्र बैलगाड़ी ही है, आप अस्सी वर्ष की वृद्धावस्था में भी गर्मी, बरसात और शीत ऋतु-जन्य कष्टों को निर्विकार भाव की पुलकित प्रसन्नता में सहन करते हुए जाते हैं और जनता में अपनी साधना-विधि का प्रचार कर उन्हें चरित्र-निर्माण की शिक्षा देते हैं। गो० तुलसीदासजी ने ठीक ही कहा है–'सन्त सहहिं दुख परहित लागी।' आप उनकी इस वाणी को चरितार्थ कर रहे हैं।

कबीर, नानक, दादू और पलटू आदि सन्तों की भाँति आप भी अपनी साधना के आलोक में अज्ञानान्धकार में भटकते हुए असंख्य मानवों के हृदय में आध्यात्मिक चेतना की ज्योति जगाकर उनका मार्ग-प्रदर्शन करते हैं। यही कारण है कि आज आपसे वैदिक धर्मावलम्बी के लिए तो कहना ही क्या, बौद्ध, इस्लाम और ईसाई भी दीक्षित होकर अपने को कृतकृत्य मानते हैं।

आपके प्रचार का आधार है–वेद, उपनिषदादि आर्ष ग्रन्थ और सन्तों की वाणियाँ। सन्तों की वाणियों में साधनाओं द्वारा जिस सत्य का साक्षात् करने का वर्णन किया गया है, उसका अभ्यास करके ही आपने उसका साक्षात्कार किया है।

आप मधुकरी वृत्ति नहीं करके अपने गुरु महाराजजी की आज्ञानुसार कृषि-कर्म-द्वारा अपना जीवन-निर्वाह करते हैं और अपने शिष्यों को भी स्वावलम्बी जीवन व्यतीत करने की शिक्षा देते हैं।

सर्वसन्तानुमोदित आपकी साधना-विधि का क्रम है–मानस जप, मानस ध्यान, दृष्टियोग तथा नादानुसन्धान अर्थात् सुरत-शब्द-योग, तदनुसार इन विषयों के साथ-साथ आप झूठ,

चोरी, नशा, हिंसा और व्यभिचार से विरत रहने का प्रबल आदेश देते हैं। आपका कथन है कि सदाचार की नींव पर ही साधना-भवन का सुनिर्माण किया जा सकता है। अतः साधकों के चरित्र-निर्माण के लिए आप सतत सचेष्ट रहते हैं।

मानव के उभय लोक-कल्याणर्थ आपने सत्संग, अध्ययन, मनन, निदिध्यासन और अनुभवाधार पर कई पुस्तकें लिखीं और कुछ पुस्तकों की टीका करके जन-साधारण के लिए उन्हें बोधगम्य बनाया है। इसके नाम हैं–(१) सत्संग-योग (चारो भाग), (२) सन्तवाणी सटीक, (३) रामचरितमानस-सार सटीक, (४) वेद-दर्शन-योग, (५) श्रीगीता-योग-प्रकाश, (६) सत्संग-सुधा, प्रथम एवं द्वितीय भाग, (७) महर्षि मेँहीँ-पदावली, (८) मोक्ष-दर्शन, (९) भावार्थ सहित घटरामायण-पदावली, (१०) विनय-पत्रिका-सार सटीक, (११) ईश्वर का स्वरूप और उसकी प्राप्ति, (१२) ज्ञान-योग-युक्त ईश्वर-भक्ति।

(१) सत्संग-योग–इसके प्रथम भाग में वेदों, उपनिषदों, श्रीमद्‌भगवद्‌गीता, श्रीमद्‌भागवत, अध्यात्म रामायण, शिवसंहिता, महाभारत, ज्ञानसंकलिनी तन्त्र, दुर्गा सप्तशती इत्यादि के मोक्ष-सम्बन्ध ी सदुपदेशों का संग्रह है। दूसरे भाग में भगवान महावीर, भगवान बुद्ध, भगवान शंकराचार्य, महायोगी गोरखनाथजी महाराज, सन्त कबीर साहब, गुरु नानक साहब, गो० तुलसीदासजी, भक्तवर सूरदासजी, सन्त तुलसी साहब (हाथरस-निवासी), स्वामी विवेकानन्द, लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, राधास्वामी साहब, बाबा देवी साहब प्रभृति पचास सन्त-महात्माओं और भक्तों के सदुपदेश हैं। तीसरे भाग में वर्तमान विद्वानों और महात्माओं के उत्तमोत्तम वचन हैं, जो 'कल्याण' तथा अन्य पत्रों से उद्‌धृत हैं। सत्संग, श्रवण, मनन, अध्ययन एवं समाधि-साधना-द्वारा महर्षिजी

की अनुभूतियों का वर्णन चौथे भाग में है।

(२) सन्तवाणी सटीक–संतों की वाणी उनकी अनुभूतियों और अनुभवों का अगम और अपार सिंधु है। इस पुस्तक में महर्षिजी ने उसे सर्वसाधारण की समझ में आने योग्य बनाने का यथायोग्य प्रयास किया है।

(३) रामचरितमानस-सार-सटीक–इस ग्रन्थ में महर्षिजी ने रामचरितमानस के उपदेशात्मक, साधनात्मक और अनुभव-प्रकाशक दोहों, चौपाइयों, छन्दों एवं सोरठों का चयन कर उनकी टीका और व्याख्या की है। रामचरितमानस का कथा-क्रम भी अभंग रूप से है। साथ ही सर्वसाधारण का यह भ्रामक विचार कि 'गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज सगुण साकार भगवान की ही भक्ति करते थे और दाशरथि राम को ही सर्वोपरि समझते थे।' इसके अध्ययन से दूरीभूत होकर सरलतम रूप से समझ में आ जाता है कि गोस्वामी तुलसीदासजी भगवान के सगुण-निर्गुण और इन दोनों रूपों के परे शुद्ध आत्मस्वरूप के भी ज्ञाता और ध्याता थे।

(४) वेद-दर्शन-योग*–चारो वेदों से १०० मंत्रों का सटीक संग्रह करके उनके प्रायः प्रत्येक मन्त्र पर महर्षिजी द्वारा टिप्पणी। इसके लिए आर्य-समाज के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान पण्डित बिहारी लालजी शास्त्री ने अपनी 'आर्य-मित्र' साप्ताहिक पत्रिका में लिखा–'महात्मा मेँहीँ परमहंसजी ने अपनी पुस्तक में सन्तों की अनुभूति और वेद का समन्वय करके कालान्तर से बिछुड़े सन्तमत और वैदिक धर्म को एक कर दिया है।'

(५) श्रीगीता-योग-प्रकाश (प्रस्तुत ग्रंथ)–गीता में वर्णित

---

*इसके टीकाकार हैं–पंडित जयदेव शर्मा, विद्यालंकार, मीमांसातीर्थ (आर्य साहित्य मंडल लिमिटेड, अजमेर)।

भक्ति, ज्ञान और योगादि का सन्त-साधना से समन्वय।

(६) सत्संग-सुधा (महर्षि मेँहीँ-वचनामृत), प्रथम एवं द्वितीय भाग–इस पुस्तक में महर्षिजी के विभिन्न स्थानों में दिए गए २६ प्रवचनों का संग्रह है। इसमें ईश्वर-स्वरूप-निर्णय, भक्ति, योग, बन्ध-मोक्ष, सत्संग, सदाचार तथा सन्त-साधना-पद्धति पर विशेष रूप से प्रकाश डाला गया है।

(७) महर्षि मेँहीँ-पदावली–महर्षिजी द्वारा रचित सभी पदों का एक साथ संग्रह है।

(८) मोक्ष-दर्शन–परमात्मा, ब्रह्म, ईश्वर, जीव, प्रकृति, माया, बन्ध-मोक्षधर्म वा सन्तमत की उपयोगिता, परमात्म-भक्ति और अन्तर-साधना का सारांश साफ-साफ समझ में आ जाय–इस पुस्तक के लिखने में महर्षिजी का यही उद्देश्य है।

(९) घटरामायण-पदावली–हाथरस-निवासी तुलसी साहबकृत ग्रन्थ के कुछ पद्यों का चयन करके उनके अर्थ और उनकी व्याख्या कर उनके ही आधार पर महर्षिजी ने बताया है कि परम प्रभु सर्वेश्वर को अपने घट में कहाँ और कैसे पाया जा सकता है।

(१०) विनय-पत्रिका-सार-सटीक–इस ग्रन्थ में गोस्वामी तुलसीदास कृत विनय-पत्रिका से कतिपय चुने हुए पद्य, उनके अर्थ, उनकी व्याख्या और तत्सम्बन्धी महर्षिजी के विचार भी हैं।

(११) ईश्वर-स्वरूप और उसकी प्राप्ति–ईश्वर स्वरूपतः क्या है और उसकी प्राप्ति कैसे होती है, इसका साररूप में वर्णन।

(१२) ज्ञान-योग-युक्त ईश्वर-भक्ति–इस छोटी-सी पुस्तिका में महर्षिजी ने मोक्ष-साधन की पूर्णता के लिए ज्ञान, योग और भक्ति–इन तीनों की एक साथ अनिवार्य आवश्यकता

बतलायी है।

सत्संग की सुचारु एवं सुव्यवस्थित ढंग से दिनानुदिन अभिवृद्धि हो, इसके लिए सिकलीगढ़ धरहरा, बनमनखी, पुरैनियाँ (बिहार) में श्रीसंतमत-सत्संग मंदिर का सर्वप्रथम निर्माण किया गया। तदुपरान्त आज विभिन्न स्थानों में सैकड़ों सत्संग-मन्दिरों के निर्माण हो चुके हैं और नव-निर्माण होते ही जा रहे हैं। इनके द्वारा सभी जातियों एवं धर्मों के असंख्य नर-नारी स्वावलम्बी जीवन-यापन करने, सुचरित्र-निर्माण करने तथा परमात्म-भजन कर उभय लोक बनाने की शिक्षा पाते हैं।

जैसे दूध में धृत और माता के उपदेश में बालक का हित भरा होता है, वैसे ही आपके ज्ञानोपदेश में मानव का कितना कल्याण निहित है, कहा नहीं जा सकता। आपके विचार, प्रचार और सिद्धांत से किसी भी धर्म, मजहब और सम्प्रदाय के सार सिद्धान्त का खण्डन नहीं होता, वरन् आपका दृढ़ सिद्धान्त है कि सभी सन्तों का एक ही मत है। आपके पूर्व से ही जैसे सन्त दादू दयालजी आपके वाक्यों का समर्थन करते रहे हों–

'जे पहुँचे ते कहि गये, तिनकी एकै बाति।
सबै सयाने एक मत, तिनकी एकै जाति॥'

और यदि आपके शब्दों में कहना चाहेंगे, तो हम कह सकेंगे–'भिन्न-भिन्न काल तथा देशों में सन्तों के प्रगट होने के कारण तथा इनके भिन्न-भिन्न नामों पर इनके अनुयायियों द्वारा संतमत के भिन्न-भिन्न नामकरण होने के कारण सन्तों के मत में पृथक्त्व ज्ञात होता है, परन्तु यदि मोटी और बाहरी बातों को तथा पंथाई भावों को हटाकर विचारा जाय और सन्तों के मूल एवं सार विचारों को ग्रहण किया जाय, तो यही सिद्ध होगा कि सब सन्तों का एक ही मत है।

आपके तत्त्वावधान में प्रति वर्ष अखिल भारतीय

सन्तमत-सत्संग का वार्षिक महाधिवेशन विभिन्न प्रान्तों के विभिन्न जिलों में हुआ करता है। इसमें जैन, बौद्ध, सिक्ख, ईसाई, इस्लाम और वैदिक धर्मावलम्बियों एवं सभी जातियों-सम्प्रदायों के सहस्त्रों नर-नारी एकत्रित हो आपके वचनामृत से लाभान्वित होते हैं। इसके अतिरिक्त आपके द्वारा प्रचालित अखिल भारतीय सन्तमत-सत्संग का विशेषाधिवेशन, मासिकाधिवेशन, साप्ताहिक, दैनिक, दिन में दो और तीन बार भी सत्संग-प्रचार अव्याहत रूप से हो रहा है। इसके अतिरिक्त दैनिक त्रैकालिक ध्यान-साधना का वैयक्तिक क्रम तो निर्बाध रूप से चलता ही है। फिर भी साधकों की ध्यान-साधना में विशेष प्रगति लाने के लिए आप अपने तत्त्वावधान में सप्ताह, अर्द्धमास और मास-ध्यान-साधना भी सामूहिक रूप से करवाते हैं।

मात्र अध्यात्म-ज्ञान-द्वारा ही अपने देश-सेवा में हाथ बँटाया हो, ऐसा नहीं। राजनैतिक क्षेत्र में भी, प्रकट और अप्रकट रूप से आपने कम सेवा नहीं की। अपने देश को स्वतन्त्र बनाने में आपने जो योगदान दिया, वह अवर्णनीय है। हाल में ही जब चीनियों ने अपने देश (भारत) पर आक्रमण किया, तो आपने बिहार राज्य सुरक्षा-कोष में एकमुस्त दान दिया और आज भी आप प्रतिमास नियमित रूप से उक्त सुरक्षा-कोष में दान देते चले आ रहे हैं।

इतना ही नहीं, इस अस्सी वर्ष की जर्जर वृद्धावस्था में भी आपने आत्म-विश्वास की ओजस्वी भाषा में जो अपनी उद्घोषवाणी विश्व को सुनायी है, उससे प्रत्यक्ष है कि आपमें अपने स्वतन्त्र देश का कितना गौरव और कितनी देश-भक्ति है। वह अभय वाणी है-'आज या कल कभी-न-कभी इस शरीर का नाश हो जाना ध्रुव निश्चित है। किन्तु लोक-कल्याणकारी

कार्य में इस शरीर का बलि हो जाना अति श्रेयस्कर है। मैं बूढ़ा हो गया हूँ, हाथ-पैर काँपते हैं, फिर भी देश-रक्षा के निमित्त सरकार मुझे युद्ध में जाने के लिए कहे, तो मैं सहर्ष जाने के लिए तैयार हूँ। देश-रक्षार्थ युद्ध के लिए अपने देश के किसी भी व्यक्ति को मुँह नहीं मोड़ना चाहिए। यह अनिवार्य हिंसा है, जैसे कृषकों के लिए कृषि-कर्म की हिंसा। नवजवानों को साहसी, निरालस्य और पुरुषार्थी होना चाहिए। और देशवासियों को तन, मन और धन से सतत सरकार की सहायता के लिए तत्पर, सावधान और क्रियाशील रहना चाहिए, जिससे देश का यह संकट शीघ्र टल जाए।'

–शांति-सन्देश, मासिक पत्रिका का अक्टूबर (१९९२ ई०) अंक।

–महर्षि मेँहीँ आश्रम
कुप्पाघाट, भागलपुर-३ (बिहार)

'संतसेवी'

....

भूमिका

भारत के एक बृहत ग्रन्थ का नाम 'महाभारत' है। कहा जाता है कि विश्व-साहित्य-भण्डार के पद्यबद्ध ग्रन्थों में यह सबसे विशेष स्थूलकाय है। यह केवल भारत ही नहीं, वरंच सम्पूर्ण विश्व में सुविख्यात है।

यह ग्रन्थ अठारह भागों में विभक्त है। इसके प्रत्येक भाग को 'पर्व' कहते हैं। इन अठारह पर्वों में से एक का नाम 'भीष्मपर्व' है। इसी भीष्मपर्व के एक छोटे-से भाग का नाम 'श्रीमद्भगवद-गीता' है। श्रीमद्भगवद्गीता का अर्थ 'भगवान श्रीकृष्ण द्वारा गाया हुआ गीत' है। इसलिए इसकी पद्यात्मक भाषा में तार (टेलीग्राम) द्वारा भेजे गए सन्देश की-सी संक्षिप्तता है। इसमें केवल ७०० श्लोक हैं तथा सब मिलकर ९,४५६ शब्द हैं।

नौ हजार चार सौ छप्पन पद्यबद्ध शब्दों में उपनिषदों का सारांश आ गया है। इसीलिए इस पुस्तिका की बड़ी महत्ता है। यह तेजस्विनी पुस्तिका भारत की अध्यात्म-विद्या की सबसे बड़ी देन है।

भारत आदिकाल से ही अध्यात्म-ज्ञान एवं योगविद्या का देश रहा है। इस विद्या के कोई गुरु कहीं बाहर से आकर यहाँ वालों को अध्यात्म-ज्ञान एवं योगविद्या की शिक्षा-दीक्षा दे गए हों, ऐसा एक भी उदाहरण भारत के हजारों साल लम्बे इतिहास में नहीं मिलता। उपर्युक्त विद्याओं के गुरु समय-समय पर इसी देश में उत्पन्न होते रहे हैं।

पहले की बात तो जाने दीजिए, हजार साल की परतंत्रता से दीनापन्न भारत में भी इन विद्याओं के जानकार पूर्ववत् होते रहे हैं।

भारत के स्वतंत्र होने के कुछ ही साल पूर्व श्रीपाल

ब्रन्टन नाम के प्रतिष्ठित अँगरेज महाशय योग-विद्याओं के जानकारों की खोज में यहाँ आये और कुछ ही महीने ठहरकर वे जो कुछ जान पाये, उसी से सन्तुष्ट होकर अपने देश को लौट गये।

इस देश को सर्वाधिक गौरव उपर्युक्त विद्याओं पर है और इन विद्याओं को श्रीमद्‌भगवद्‌गीता पर गौरव है।

इसलिए भारत के बड़े-बड़े साधक-आचार्य श्रीमद्‌भगवद्‌गीता का सहारा लेकर ज्ञान-प्रचार-द्वारा भारत एवं विश्व का कल्याण करते रहे हैं। परिणामस्वरूप भारत-वन्द्य यह पुस्तिका अब विश्ववन्द्या हो चुकी है। विश्व की सभी समुन्नत भाषाओं में आये दिन इसके अनुवाद निकलते ही रहते हैं। अतएव जगद्‌गुरु भारत के प्रत्येक नागरिक का यह नैतिक उत्तरायित्व है कि वह इस ग्रन्थ का सही तात्पर्य स्वयं समझे और अन्यों को समझावे।

इस उत्तरदायित्व के निवाहने में तनिक भी प्रमाद, असावधानी या भ्रम न केवल भारत, बल्कि विश्व की आध्यात्मिक उन्नति के लिए घातक है।

अब प्रश्न यह है कि गीता का सही तात्पर्य क्या है? ऐहिक एवं पारमार्थिक कल्याण साथ-साथ करते हुए मनुष्य कैसे समता प्राप्त करे और किस तरह कर्म करता हुआ समाधिस्थ हो स्थितप्रज्ञता तक पहुँच सके, इसी के साधन की पूर्णता के लिए योग का अभ्यास अत्यावश्यक है। यहाँ 'योग' शब्द की सफाई में कुछ कह देना आवश्यक है। गीता के अठारह अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय के साथ 'योग' शब्द लगा हुआ है; जैसे—अर्जुन-विषादयोग, सांख्ययोग, कर्मयोग इत्यादि। इससे गीता के पाठकों को ज्ञात होता है कि इसमें केवल योग-ही-योग है।

स्मरण रखने की बात यह है कि गीता में केवल योग की ही बात नहीं है, बल्कि कैसे बैठना चाहिए, कितना खाना चाहिए और कितना सोना चाहिए आदि बातें दे दी गई हैं।

यहाँ निवेदन यह है कि गीता में 'योग' शब्द एक ही अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है।

पहले तो 'योग' शब्द सुनते ही 'पातञ्जलयोग-दर्शन' के योग का स्वरूप विचार में आने लगता है। चित्तवृत्ति के निरोध को महर्षि पतञ्जलि 'योग' कहते हैं। चित्तवृति-निरोध के अर्थ में 'योग' शब्द गीता में आया है, मगर उसके और दूसरे-दूसरे अर्थ भी हैं; जैसे—अर्जुन-विषादयोग।

यहाँ 'योग' शब्द का अर्थ 'युक्त होना' है। अर्जुन विषाद-युक्त हुआ, इसी का वर्णन प्रथम अध्याय में है, इसीलिए उस अध्याय का नाम 'विषादयोग' हुआ। जिस विषय का वर्णन करके श्रोता को उससे युक्त किया गया, उसको तत्संबंधी योग कहकर घोषित किया गया।

अध्याय २ के श्लोक ४८ में कहा गया है—'समत्वं योग उच्यते' —अर्थात् समता का ही नाम 'योग है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ 'योग' शब्द का अर्थ समता है।

पुनः उसी अध्याय के श्लोक ५० में कहा गया है—'योगः कर्मसु कौशलम्'—अर्थात् कर्म करने की कुशलता या चतुराई को योग कहते हैं। यहाँ 'योग' शब्द उपर्युक्त अर्थों से भिन्न, एक तीसरे ही इर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

अतएव गीता के तात्पर्य को अच्छी तरह समझने के लिए 'योग' शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थों को ध्यान में रखना चाहिए।

गीता स्थितप्रज्ञता को सर्वोच्च योग्यता कहती है और उसकी प्राप्ति का मार्ग बतलाती है।

स्थितप्रज्ञता, बिना समाधि के सम्भव नहीं है। इसीलिए गीता के सभी साधनों के लक्ष्य को समाधि कहना अयुक्त नहीं है।

इन साधनों में समत्व-प्राप्ति को बहुत ही आवश्यक बतलाया गया है। समत्व-बुद्धि की तुलना में केवल कर्म बहुत तुच्छ है। (गीता २:४९) इसलिए समतायुक्त होकर कर्म करने को कर्मयोग कहा गया है। यही 'योगः कर्मसु कौशलम्' है। अर्थात् कर्म करने की कुशलता को योग कहते हैं। कर्म करने का कौशल यह है के कर्म तो किया जाय; परन्तु उसका बधन न लगने पावे। यह समता पर निर्भर करता है।

गीता न सांसारिक कर्तव्यों के करने से हटाती है और न कर्म बंधन रखती है।

समत्व-योग प्राप्त कर स्थितप्रज्ञ बन, कर्म करने की कुशलता या चतुराई में दृढ़ारूढ़ रह, कर्तव्य कर्मों के करने का उपदेश गीता देती है।

समत्व-प्राप्त स्थितप्रज्ञ पुरूष कर्म करने में कुशल, सांसारिक कर्मों में फल-आस-भाव से असंग रहता हुआ, कर्म-बंधन रहित होकर उन कर्मों को जीवन-भर करे और इस तरह जीवन्मुक्त बन जाय—यही 'कर्मयोग गीता सीखलाती है।

गीता-ज्ञानानुकूल कर्म-योगी के लिए समत्व और स्थित-प्रज्ञता अत्यन्त आवश्यक बतलाए गए हैं। ये दोनों समाधि साधन में ही प्राप्त होते हैं। (गीता २.५३ से) यह विदित होता है तथा गीता अध्याय २, श्लोक ५४ में तो समाधिस्थ और स्थितप्रज्ञ का कथन निर्भेद भाव में किया गया हैं

पहले ही कहा जा चुका है कि गीता में बतलाए गए तमाम साधनों का अन्तिम लक्ष्य समाधि है।

समाधि-साधन के लिए जिन योगों की आवश्यकता है,

उन सबका समावेश गीता में है। गीताशास्त्र के ज्ञानयोग, ध्यानयोग, प्राणायामयोग, जपयोग, भक्तियोग, कर्मयोग आदि सभी योगों की भरपूर उपादेयता है। सब एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं और इस तरह सम्बद्ध हैं जैसे माला की मणिकाएँ।

अब अगर कोई कहे कि अमुक योग के अभ्यास करने का युग नहीं है, तो मानना पड़ेगा कि उनकी यह कथनी गीतोपदेश के विरुद्ध है।

अन्य कोई कहे तो कहे, मगर कहनेवाले यदि भारत के उत्तम पुरुषों में से कोई हों और भारत के अध्यात्म-जगत की सर्वोत्तम उपाधि से विभूषित हों यानी 'सन्त' कहलाते हों, तो स्थिति और गम्भीर हो जाती है। ये सन्त यदि कहें कि 'मेरे जीवन में गीता ने जो-जो स्थान पाया है, उसका मैं शब्दों मं वर्णन नहीं कर सकता हूँ। गीता का मुझ पर अनन्त उपकार है। .... मेरा शरीर माँ के दूध पर जितना पला है, उससे कहीं अधि क मेरा हृदय व बुद्धि दोनों गीता से पोषित हुए हैं। .... मैं प्रायः गीता के ही वातावरण में रहता हूँ, गीता यानी मेरा प्राण तत्त्व।' और फिर वे ही अगर कहें कि 'अब ध्यानयोग-अभ्यास करने का युग नहीं है।' तो स्थिति गम्भीरतम हो जाती है। और यही विदित होता है कि देश का अमंगलकाल ही चला आया है।

किसी को नहीं चाहिए कि कर्मयोगी बनते हुए कर्मयोग का तो वे गुणगान करें और ध्यानयोग को आधुनिक काल के लिए अव्यावहारिक बताकर जन-साधारण को उससे विमुख करें।

गीता ज्ञान जन-साधारण के लिए ही है। साधारणतया यह मान लिया गया है कि गीता साधु-संन्यासियों के व्यवहार की ची हैं; किन्तु स्वयं गीता सबको गीता-ज्ञान सबको गीता-ज्ञान

का अधिकारी मानती है। यहाँ सवर्ण, अवर्ण, स्त्री, शुद्र, पापी और दुराचारी; सभी के लिए गीता-गंगा का जल-रूपी उपदेश समान रूप से सुलभ है। (गीता, अध्याय ६,श्लोक ३० से ३२)

यहाँ उपदेश और उपदेष्टा (गुरु) के लिए कुछ कहना आवश्यक प्रतीत होता है; क्योंकि कुछ ऐसे भी सज्जन हैं, जिनका मत है कि अध्यात्म-साधन के लिए गुरु की कोई आवश्यकता नहीं, परमात्मा ही एकमात्र गुरु हैं।

उनसे मेरा निवेदन है कि ऐसे विचार गीता एवं भारतीय अध्यात्म-विद्या की शिक्षा-परम्परा के सर्वथा विरुद्ध हैं। गीता के चौथे अध्याय में लिखा है–

'तद्धिद्धि प्रणिपासेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति से ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥३४॥'

तत्त्व को जाननेवाले ज्ञानी पुरुषों से भली प्रकार दण्डवत् प्रणाम तथा सेवा और निष्कपट भाव से किए हुए प्रश्न-द्वारा उस ज्ञान को जान; वे मर्म को जाननेवाले ज्ञानीजन तुझे उस ज्ञान का उपदेश करेंगे।

अध्याय १३ में है–

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिप्रहः ॥७॥

अमानित्व (मान का अभाव), अदंभित्व (दंभ का अभाव), अहिंसा, क्षमा, सरलता, आचार्य (गुरु) की सेवा, शुद्धता, स्थिरता, आत्मसंयम.................... यह सब ज्ञान कहलाता है। इससे जो उलटा है, वह अज्ञान है।

'देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्चते ॥'

(गीता, अध्याय ५४)

देव, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानी की पूजा, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा—यह शारीरिक तप कहलाता है।

हमारे यहाँ उपनिषदानि ग्रन्थों से लेकर भगवान बुद्ध, भगवान शंकराचार्य, महायोगी श्रीगोरखदासजी, सन्त कबीर साहब, गुरु नानक साहब, गोस्वामी तुलसीदासजी इत्यादि अर्वाचीन साधु पुरुषों तक गुरु और उनके महत्त्व की मान्यता अव्याहत रूप से चली आ रही है। यहाँ तद्विषयक प्रमाणार्थ कुछ उपनिषद् एवं सन्तवाणियों को उद्धृत किया जाता है।

'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रिमं ब्रह्मनिष्ठम्।'

(मुण्डकोपनिषद् १.२.१२)

जिज्ञासु को परमात्मा का वास्तविक तत्त्वज्ञान प्राप्त करने के लिए हाथ में समिधा लेकर श्रद्धा और विनय-भाव के सहित ऐसे सद्गुरु की शरण में जाना चाहिए, जो वेदों के रहस्य को भली भाँति जानते हों और परब्रह्म में स्थित हों।

.... इति शुश्रुम श्रीराणम् येनरतद्विचचक्षिरे ।'

(ईशोपनिषद्)

इस प्रकार हमने उन परम ज्ञानी महापुरुषों से सुना है, जिन्होंने हमें यह विषय पृथक-पृथक रूप से व्याख्या करके भली भाँति समझाया था।

त्रिपाद्विभूति महानारायणोपनिषद् में—

'शान्तो दान्तोऽतिविरक्तः सुशुद्धो गुरुभक्तस्तपोनिष्ठः शिष्यों ब्रह्मनिष्ठं गुरुमासाद्य प्रदक्षिणपूर्वकं दण्डवत्प्रणम्य प्राञ्जलिर्भूत्वा विनयेनोपसङ्गम्भ भगवन् गुरो मे परमतत्त्वं विदिच्यवक्तव्यमिति ।'

शान्त, दमनशील, अति विरक्त, अति शुद्ध, गुरुभक्त,

तपोनिष्ठ शिष्य ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास जाकर प्रदक्षिणा और दण्डवत् प्रणाम करके हाथ जोड़कर नम्रता के साथ कहे—हे भगवन् मेरे गुरु! परम तत्त्व-रहस्य विवेचना के साथ मुझे बतलाइए।

महोपनिषद् में—

दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभं तत्त्वदर्शनम्।
दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणां दिना ॥७७॥

सद्गुरु की दया के बिना विषय-त्याग दुर्लभ है, तत्त्वदर्शन दुर्लभ है और सहजावस्था दुर्लभ है।

योगशिखोपनिषद् के पाँचवें अध्याय में—

गुरुर्ब्रह्मा गुरुविष्णुर्गुरुर्देवः सदाविशः।
न गुरोरधिकः कश्चिन्त्रिषु लोकेषु विद्यते ॥५६॥
दिव्यज्ञानोपदेष्टारं देशिकं परेमश्वरम्।
पूजयेस्परया भवत्या तस्म ज्ञानफलं भवेत् ॥५७॥
यथा गुरुस्तथैवेशो यथैशस्तया गुरुः।
पूजनीयो महाभवत्या न भेदो विद्यतेऽनयोः॥५८॥

गुरुदेव ही ब्रह्मा, विष्णु और सदाशिव हैं। तीनों लोकों में गुरु से बढ़कर कोई नहीं है। दिव्य ज्ञान के उपदेश देनेवाले उपस्थित प्रत्यक्ष परमेश्वर की, भक्ति के साथ उपासना करे, तब वह (शिष्य) ज्ञान का फल प्राप्त करेगा। जैसे गुरु हैं, वैसे ही ईश हैं, वैसे ही ईश हैं; जैसे ईश हैं, वैसे ही गुरु हैं; इन दोनों में भेद नहीं है, इस भावना से पूजा करे।

कर्णधारं गुरुं प्राप्य तद्वाक्यं प्लववदृढम्।
अभ्यासवासनाशवत्या तरन्ति भवसागरम् ॥७६॥

(योगशिखोपनिषद्, अध्याय३)

गुरु के कर्णधार (मल्लाह) पाकर और उनके वाक्य को

दृढ़ नौका पाकर अभ्यास (करने की) वासना की शक्ति से भवाागर को लोग पार कहते है।

देहस्थाः सर्वविद्याश्च देहस्थाः सर्वदेवताः ।
देहस्थाः सर्वतीर्थानि गुरुत्राक्येन लभ्यते ॥८॥

इस देह में सब विद्या, सब देवता और सब तीर्थ, विराजमान हैं। केवल गुरु के उपदेश से ही देहस्थित से सब विद्या, देवता और तीर्थ जाने जाते हैं।

हम पहले ही कह आये हैं कि गीता में उपनिषदों का सार है। एवं इसकी भाषा में तार-सन्देश की-सी संक्षिप्तता है। इसलिए गीता गुरु-सम्बन्धी उपर्युक्त विचारों को एक श्लोक मं देती है।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

(गीता ४.३४)

इसे तू तत्त्व के जानेवाले ज्ञानियों की सेवा करके और नम्रतापूर्वक विवेक-सहित बारम्बार प्रश्न करके जानना। वे तेरी जिज्ञासा तृप्त करेंगे।

तथा गुरु और ज्ञानी की पूजा करने की गीता शारीरिक तप की संज्ञा देती है। (गीता २७.१४)

महाभारत शान्तिपर्व उत्तराद्ध, मोक्षधर्म, अध्याय ११४ में लिखा है–'भीष्मजी बोले कि ईश्वर में चित्त लगाकर गुरु की पूजा और आचार्यों का सदैव पूजन करे। गुरु आदि से शास्त्रों को सुनना, तदन्तर शुद्धब्रह्म से सम्बन्ध रखनेवाला कल्याण कहा जाता है।'

सन्तों ने भी इन्हीं विचारों को अपने-अपने स्वयं-सिद्ध शब्दों में दुहराए हैं।

यम्हा धम्मं विजानेय्य सम्मानसम्बुद्धदेसितं।
सक्कच्चं तं नमस्सेय्य अग्गिहुत्तं व ब्राह्मणो ॥१०॥

(धम्मपद, ब्राह्मणवग्गो–३६२)

मनुष्य जिससे बुद्ध का बताया हुआ धर्म सीखे तो उसे उसकी परिश्रम से सेवा करनी चाहिए, जैसे ब्राह्मण यज्ञ-अग्नि की पूजा करता है।

गुरुचरणाम्बुज निर्भरभक्तः संसारादचिराद्भवमुक्तः

(भगवान शंकराचार्य)

सप्त धातु का काया प्यंजरा ता माहिं 'जुगति' बिन सूचा।
सतगुरु मिलै त उबरै बाबू नहिं तौ परलै हुआ॥

(महायोगी गोरखनाथजी)

बिन सतगुरु उपदेस, सुर न मुनि नहिं निस्तरै।
ब्रह्मा विष्णु महेस, औ सकल जिव को गिनै॥

गुरुदेव बिन जी की कल्पना ना मिटै, गुरुदेव बिन जीव का भला नाहीं॥
गुरुदेव बिन जीव का तिमिर नासै नहीं, समुझि विचारि ले मने माहीं॥
राह बारीक तें पाइये, जन्म अनेक की अटक खोलै।
कहै कबीर गुरुदेव पूरन मिलै, जीव और सीव तब एक तालै॥

गुरु हैं बड़े गोविन्द तें, मन में देखु विचार।
हरि सुमिरै सो वार है, गुरु सुमिरै सो पार॥

गुरु मिलि खुले कपाट। बहुरि न आवै योनी वाट॥

गुरु साहिब करि जानिये, रहिये सब्द समाय।
मिलै तो दंडवत बन्दगी, पल-पल ध्यान लगाय॥

(कबीर साहब)

गुरु की मूरति मन महि धिआनु। गुरु के सबदि मंत्र मनु मानु।
गुरु के चरण रिवै लै धारउ। गुरु परब्रह्म सदा नमसकारउ ॥१॥
मत को भरमि भूलै संसारि। गुरु बिनु कोई न उतरसि पारि॥
भूलै कउ गुरु मारगि पाइआ। अवरि तिआगि हरि भगती लाइआ॥
जनम-जनम की त्रास मिटाई। गुरु पूरे की वे अन्त बड़ाई ॥२॥
गुरु प्रसादि ऊरध कमल विगास। अंधकार महि भइआ प्रगास॥
जिनि किआ सो गुरते जानिआ। गुरु किरपा ते मुगधु मनु मानिआ ॥३॥
गुरु करता गुरु करणै जोगु। गुरु परमेसुर है भी होगु॥
कहु नानक प्रभि इहै जनाई। बिनु गुरु मुकति न पाइऐ भाई ॥४॥

(गुरु नानक)

गुरु बिनु भवनिधि तरइ न कोई। जौं बिरञ्चि सङ्कर सम होई॥

बिनु गुरु होइ कि ज्ञान, कि होइ विराग बिनु।
गावहिं वेद पुरान, सुख कि लहिय हरि भगति बिनु॥
गुरु पद पङ्क सेवा, तीसरि भगति अमान।
श्री हरि गुरुपद कमल भजहिं मन तजि अभियान।
जेहि सेवत पाइय हरि सुख निधान भगवान॥

(गोस्वामी तुलसीदासजी)

गुरु बिनु ऐसी कौन करै।
माला तिलक मनोहर बाना, लै सिर छत्र धरै॥

भवसागर से बूड़त राखै, दीपक हाथ धरै।
सूर स्याम गुरु ऐसो समरथ, छिन में लै उधरै।।
(भक्त सूरदासजी)

सतगुरु सिकलीगर मिलै, तब छूटै पुराना दाग।।
छूटै पुराना दाग गड़ा मन मुरचा माहीं।

सतगुरु पूरे बिना दाग यह छूटै नाहीं।।
झाँवाँ लेवै जोग तेग को मलै बनाई।

जौहर देय निकार सुरत को रंद चलाई।।
सब्द मस्कला करै ज्ञान का कुरँड लगावै।

जोग जुगत से मलै दाग तब मन का जावै।।
पलटू सैफ को साफ करि बाढ़ धरै वैराग।
सतगुरु सिकलीगर मिलैं तब छूटै पुराना दाग।।
(पलटू साहब)

गुरु बिन ज्ञान नहिं, गुरु बिन ध्यान नहिं।
गुरु बिन आतम, विचार न लहतुहै।।

गुरु बिन प्रेम नहिं, गुरु बिन नेम नहिं।
गुरु बिन सीलहु, सन्तोष न रहतु है।।

गुरु बिन प्यास नहिं, बुद्धि को प्रकास नहिं।
भ्रमहू को नास नहिं, संसेइ रहतु है।।

गुरु बिन बाट नहिं, कौड़ी बिन हाट नहिं।

सुन्दर प्रगट लोक, वेद यों कहतु है ।।४५।।

(पलटू साहब)

इसी आशय की उक्तियाँ और भी सन्तों की हैं, जो बहुंलता एवं पुस्तक-वृद्धि के कारण यहाँ नहीं दी जा रही हैं।

किन्तु इसका मतलब यह नहीं कि जिस किसी को भी गुरु बना लिया जाय। इस मामले में अधिक सावधानी, खोज और सोच-विचार की आवश्यकता है। सन्त चरणदासजी कहते हैं-

समझ रस कोइक पावै हो ।
गुरु बिन तपन बुझै नहीं, प्यासा नर जावै हो ।।

बहुत मनुष ढूँढत फिरै, अन्धरे गुरु सेवैं हो ।
उनहूँ को सूझै नहीं, औरन कहै दैवैं हो ।।२।।

अन्धरे को अन्धरा मिलै, नारी को नारी हो ।
ह्वाँ फल होयगा, समझै न अनारी हो ।।३।।

गुरु सिष दोऊ एक से, एकै व्यवहारा हो ।
गये भरोसे डूबि कै, वै नरक मँझारा हो ।।४।।

सुकदेव कहैं चरनदास सूँ, इनका मत कूरा हो ।
ज्ञान मुक्ति जब पाइये, मिलै सतगुरु पूरा हो ।।५।।

(चरणदासजी)

गुरु सिष अन्ध वधिर कर लेखा। एक न सुनइ एक नहिं देखा ।
हरइ सिष्य धन सोक न हरई । सो गुरु नरक महँ परई ।।

(गोस्वामी तुलसीदास)

महात्मा गाँधीजी को उक्ति इस सम्बन्ध में इस तरह है– “हिन्दू-धर्म में गुरु-पद को जो महत्त्व दिया गया है, उसे मैं मानता हूँ। ‘गुरु बिन होइ न ज्ञान’ यह वचन बहुतांश में सच है। अक्षर ज्ञान देनेवाला शिक्षक यदि अधकचरा हो तो एक बार का काम चल सकता है, परन्तु आत्मा-दर्शन करानेवाले अधूरे शिक्षक से हरगिज काम नहीं चलाया जा सकता है। सफलता गुरु की खोज में ही है; क्योंकि गुरु शिष्य को योग्यता के अनुसार ही मिला करते हैं। इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक साधक को योग्यता प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने का पूरा-पूरा अधिकार है। परन्तु इस प्रयत्न का फल ईश्वराधीन है।”

(आत्मकथा–महात्मा गाँधी, भाग२, अध्याय १, पृष्ठ ६२ नौवीं बार, सन् १६४८)

महाभारत , तंत्रशास्त्र एवं सन्तवाणी के निम्न उद्धरणों मं तो यह स्पष्ट ही कहा गया है कि यदि किसी ने अपनी अनभिज्ञता के कारण किसी अयोग्य गुरु को धारण कर लिया हो, तो वैसे गुरु का अविलम्ब त्याग कर दे ।

गर्वित कार्य अकार्य नहिं, जानत चलत कुपंथ।
ऐसे गुरु कहै त्यागिये, यही कहत शुभ ग्रन्थ।।
(महाभारत, उद्योगपर्व, अध्याय १८०, श्लोक २५)

ज्ञानान्मोक्षमवाप्नोति तस्माज्जानं परास्परम्।
अतो यो ज्ञानदानेहि न क्षमस्तंत्यजेद् गुरुम।।
(बृहत्तन्त्रसार)

ज्ञान से मोक्ष होता है, इसलिए ज्ञान से बढ़कर दूसरा उपदेश नहीं है; इसलिए जो गुरु ज्ञान-दान में (अर्थात् ज्ञानोपदेश में) समर्थ (योग्य) नहीं है, ऐसे गुरु को छोड़ देना चाहिए।

झूठै गुरु के पच्छ को, तजत न कीजै बार।
द्वार न पावै सब्द का, भटकै बारम्बार॥

(कबीर साहब)

इस विषय की विशेष जानकारी के लिए 'सत्संग-योग' (चारो भाग) को पढ़ें।

विशेष रूप से याद रखने की बात यह है कि गीता परम रहस्यमयी पुस्तिका है। इसी गुप्त योग-रहस्य-निधियों पर भी प्रकाश डालने के लिए 'श्रीगीता-योग-प्रकाश' में लिखा गया है। उपर्युक्त दृष्टिकोणों से गीतार्थ के भाव आवश्यकतानुकूल लिखे गये हैं।

'श्रीगीता-योग-प्रकाश' सब श्लोको के अर्थ वा उनकी टीकाओं की पुस्तिका नहीं है। गीता के सही ताप्पर्य को समझने के लिए जो दृष्टिकोण चाहिए, वही इसमें दरसाया गया है।

गीता के बारे में फैले हुए सैकड़ों भ्रामक विचारों में से एक का भी निराकरण यदि 'श्रीगीता-योग-प्रकाश' से हुआ, तो मैं अपना प्रयत्न सफल समझूँगा।

पाण्डुलिपि की प्रतिलिपि शुद्धतापर्वूक तैयार करने में, शोध्यपत्र (प्रूफ) देखने तथा पुस्तक-प्रस्तुत होने के अन्यान्य कार्यो में जिन सत्संगियों ने परिश्रम किया है, वे सभी धन्यवाद के पात्र हैं।

श्रीबाबू सुरेन्द नारायण सिंह, एम० ए०, एल० बी०, शास्त्री ने भी शोध-कर्म में यथेष्ट परिश्रम किया है, अतएव वे भी हमारे धन्यवाद के पात्र हैं।

श्रीसन्तमत-सत्संग मन्दिर
मनिहारी

सत्संग सेवक
मेँहीँ

विजया दशमी,सं० २०१२ वि०

ॐ श्रीसद्गुरवे नमः

श्रीगीता-योग-प्रकाश

अध्याय १

अथ अर्जुनविषादयोग

इस अध्याय का विषय विषादयोग है।

आज से पाँच हजार वर्ष से भी कुछ अधिक काल पूर्व भगवान श्रीकृष्ण का अवतार इस भारत के धरातल पर हुआ था, ऐसा लोग कहते हैं। उन्हीं के समय में कौरववंशीय राजाओं के बीच एक भयंकर गृह-युद्ध हुआ था। ये राजा लोग कौरव और पाण्डव कहलाते थे।

भगवान श्रीकृष्ण ने उस युद्ध अर्जुन के सारथ्य का भार अपने उपर लिया था। राजा दुर्योधन आदि कौरवों के पिता राजा धृतराष्ट्र वृद्ध तथा अन्धे थे। वह रणक्षेत्र नहीं गये थे, अपने घर में ही रहकर युद्ध का समाचार सुनने की इच्छा रखते थे। इसलिए उनके मन्त्री संजय उनको युद्ध-समाचार सुनाया करते थे।

समाचार पूछने पर रणक्षेत्र की प्रारम्भिक बातें बताकर संजय ने आगे कहा—जब दोनों और की सेनाएँ युद्धारम्भ के हेतु आमने-सामने खड़ी हुई, अर्जुन ने भगवान से प्रार्थना की—'आप मेरे रथ को दोनों सेनाओं के बीच में ले चलकर खड़ा करने की कृपा करें, जिससे मैं देख सकूँ कि मुझे किन वीरों से लड़ना है।

भगवान ने वैसा ही किया। अर्जुन को दोनों सेनाओं में स्वजन-सम्बन्धी ही दिखाई पड़े। यह देख वह ममताग्रस्त, दयार्द्र और विषादयुक्त हो युद्ध से विमुख हो गया।

गीता के पहले अध्याय में वर्णित अर्जुनविषादयोग का सारांश यही है। 'विषाद' के अर्थ दुःख, क्लेश, शोक और खेद आदि है। रणक्षेत्र में उपर्युक्त दृश्य देखकर अर्जुन विषादयुक्त हुआ और इसी का वर्णन इस अध्याय में हुआ है। इसीलिए इस अध्याय का नाम 'अर्जुनविषादयोग' दिया गया है। इस अध्याय के अनुकूल 'युक्त होना' योग है, यहाँ यही विदित होता है। संजय ने धृतराष्ट्र को जो कुछ सुनाया, उसी का वर्णन भगवद्गीता के अठारहो अध्याय में श्रीकृष्णार्जुनसंवाद के रूप में है।

॥ प्रथम अध्याय समाप्त ॥

✶

अध्याय २
अर्थ सांख्ययोग

इस अध्याय का विषय सांख्य और योगवाद है।

भगवान श्रीकृष्ण ने कहा–हे अर्जुन! इस विषय समय में यह मोह तुमको कहाँ से आ गया? आर्य या श्रेष्ठ पुरुषों के अयोग्य, अधोगति को ले जानेवाला तथा अपयशदायक यह मोह तुमको हुआ है। तुम पण्डित-सदृश बोलते तो हो; परन्तु अकरणीय शोक करते हो।

● यहाँ 'मेरे और तुम्हारे' शरीर को नहीं, बल्कि शरीरी (आत्मा)को कहा गया है।

*** जड़ शरीर चार प्रकार के हैं–(१)स्थूल, (२) सूक्ष्म (लिंग), (३) कारण और (४) महाकारण। ये एक के अन्तर एक लिखित कम से हैं। साधारण मृत्यु में केवल स्थूल छूटता है। लिंग के सहित कारण और महाकारण रहते ही है। जैसे जीवन-काल में ऊपर स्थूल शरीर रहता है, इसी भाँति साधारण मृत्यु होने पर ऊपर सूक्ष्म शरीर रहता है। और पुनर्जन्म होने पर उसी सूक्ष्म पर दूसरा नया स्थूल शरीर धारण होता है। पूर्ण योगी के सब शरीर छूट जाते हैं। अतः उनका पुनर्जन्म नहीं होता है।**

●ऐसी आत्मा एक ही हो सकती है। अनेक आत्माओं में अचलता और सर्वव्यापकता का गुण नहीं हो सकता है। यदि यह कहा जाय कि असंख्य आत्माएँ सृष्टि में सर्वत्र पसरी हुई हैं इसीलिए आत्मा सर्वव्यापक और अनके हैं तो बीच-बीच में अल्प-अल्प भी शून्य के बिना एक से अधिक का ज्ञान नहीं हो सकता है। अतएव अनेकत्व में सर्वव्यापकत्व नहीं हो सकता है।

वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिख्पो बभूव।
एकस्तथा सर्व भूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिख्पो बहिश्च॥१०॥

(कृ० य०, कठो० अ० २, व० २)

मेरे और तुम्हारे●सहित अभी जो लोग हैं, कभी नहीं थे वा भविष्य में सब-के-सब नहीं रहेंगे, सो नहीं है। जैसे शरीरधारी को बाल, युवा तथा बुढ़ापा अवस्थाएँ आती हैं, उसी भाँति उसको दूसरे-दूसरे शरीर भी मिलते रहते हैं। सर्वव्यापी तथा सब देहों में देही आत्मा अविनाशी, पुरातन, नित्य, अव्यय, अजन्मा, न मरनेवाला और न मारनेवाला है। सब शरीरों में शरीरी आत्मा सब प्रकार से अवध्य और अनाशी है। जैसे पुराने-पुराने वस्त्रों को छोड़-छोड़कर नये-नये वस्त्र देह पर पहने जाते हैं,

---

अर्थ—जिस प्रकार इस लोक में प्रविष्ट हुआ वायु प्रत्येक रूप के अनुरूप हो रहा है, उसी प्रकार सम्पूर्ण भूतों का एक ही अन्तरात्मा प्रत्येक रूप के अनुरूप हो रहा है और उनसे बाहर भी है।

***यह अनिवार्य हिंसा है, जैसे कृषकों के लिए कृषिकर्म की हिंसा।**

***भगवान यह नहीं कहते हैं कि मेरे सामने (क्योंकि युद्ध में मैं तुम्हारे साथ ही हूँ) युद्ध में मारे जाओगे, तो गोलोक या बैकुण्ठ जाओगे या तुम्हारी मुक्ति ही हो जायेगी।**

***व्यक्त रूप से भगवान अर्जुन को दर्शन दे ही रहे थे, परन्तु उसको समता प्राप्त नहीं थी। अतएव कहना पड़ता है कि ऐसे दर्शनों से न समता प्राप्त होती है, न कोई मोक्ष के योग्य होता है।**

***महाभारत के स्वर्गारोहण पर्व, अध्याय ३, श्लोक १७ में है—द्रौपदी सहित पाँचों भाई पाण्डव कुछ काल तक के लिए नरक में जाकर पाप के फल से छूटे थे। वस्तुतः अर्जुन ने समता प्राप्त किए बिना ही युद्ध अथवा कर्म किया था। केवल व्यक्त रूप के दर्शन कर पाप से नहीं छूटा जा सकता है।**

इसका कारण यह है कि योगाभ्यास के बिना मोक्षदायक पूर्ण ज्ञान नहीं होता है। इसका स्पष्टीकरण योगतत्त्वोपनिषद् और योगशिखोपनिषद् में दृढ़ता से किया गया है; यथा—

उसी भाँति देहधारी पुरानी देह को छोड़कर नयी देह धारण करता है। * ज्ञानियों ने यह सिद्धान्त स्थिर कर दिया है कि असत् का रहना हो नहीं सकता है और सत् का नाश नहीं हो सकता है। देही आत्मा सत्, सर्वव्यापी, अव्यक्त, अचिन्तय, विकार-रहित, उपाधि-रहित, स्थिर, अचल और सनातन है। परन्तु देह का नाश होना निश्चित है। जन्म लेनेवालों के लिए मृत्यु और मरनेवालों के लिए अनिवार्य है। अनिवार्य के लिए शोक करना उचित नहीं है। धर्म-युद्ध में युद्ध करना कर्तव्य-पालन करना है।* यदि युद्ध में मारे जाओगे तो तुम्हें स्वर्ग* मिलेगा और जीतोगे तो संसार में कीर्ति प्राप्त करोगे।

इसलिए तुम युद्ध करो। शीत, उष्ण, सुख और दुःख आदि इन्द्रियों के विषय अनित्य हैं, इन्हें सहन करो। इनमें जो बुद्धिमान सम रहता है, वही मोक्ष के योग ● समता प्राप्त किए हुए रहकर युद्ध करने से तुमको पाप नहीं लगेगा।*

योगहीनं कथं ज्ञानं मोक्षदं भवति ध्रुवम्।
योगो हि ज्ञानहीनस्तु न क्षमो मोक्षकर्मणि।।
तस्माज्ज्ञानं च योगं च मुमुक्षुर्दृढमभ्यसेत्।।

(योगतत्त्वोपनिषद्)

अर्थ—योगहीन ज्ञान कैसे मोक्षप्रद हो सकता है? (अर्थात् नहीं हो सकता) यह निश्चित है। ज्ञानहीन योग भी मोक्षकार्य में समर्थ नहीं हो सकता। अतः मुमुक्षु को चाहिए कि दृढ़ता के साथ ज्ञान और योग, दोनों का अभ्यास करे।

योगहीनं कथं ज्ञानं मोक्षदं भवतीह भोः।
योगोऽपि ज्ञानहीनस्तु न क्षमो मोक्षकर्मणि।
तस्माज्ज्ञानं च योगं च मुमुक्षुर्दृढमभ्यसेत्।।

(योगशिखोपनिषद्)

सांख्य ज्ञान द्वारा इस प्रकार अर्जुन को समझाकर भगवान ने पुनः उसे योगवाद के द्वारा निम्नोक्त रीति से समझाया।*

योग के आरम्भ का नाश नहीं होता है।* इस धर्म का किंचित् मात्र पालन भी महाभय से बचाता है और इसका आश्रय ग्रहण करने से कर्म-बन्धन टूटता है। योगी की बुद्धि निश्चयात्मक, स्थिर और सम होती है। केवल कर्म करने में ही जीवों का अधिकार है, फलप्राप्ति में कदापि नहीं। स्वर्ग, भोग, ऐश्वर्य और कर्म-फल-प्राप्ति की इच्छा तथा वेद की त्रयगुणातीत बनो। दुःख-सुख आदि द्वन्द्वों से अलिप्त होओ। नित्य सत्य वस्तुओं में स्थित रहो। वस्तुओं के पाने और उन्हें सँभालने की झंझट से मुक्त रहो और आत्म-परायण बनो। समत्व वा समता पाने का अभ्यास करो। समत्व को ही योग कहते हैं और कर्म करने के कौशल वा चतुराई को भी योग कहते हैं। समत्व बुद्धि की अपेक्षा केवल कर्म बहुत ही तुच्छ है। अनेक वेद-वाक्यों में

अर्थ—योगहीन ज्ञान मोक्षप्रद भला कैसे हो सकता है? उसी तरह ज्ञान-रहित योग भी मोक्ष-कार्य में सर्मथ नहीं हो सकता। इसलिए ज्ञान और योग, दोनों का अभ्यास दृढ़ता के साथ मुमुक्षु को करना चाहिए।

और, गो० तुलसीदासजी ने भी कहा है—

चौ०—धर्म से विरति योग से ज्ञाना। ज्ञान मोक्षप्रद वेद बखाना।।

योगारम्भ-रूप संस्कार जबसे अभ्यासी के अन्दर बीज-रूप से पड़ जाता है, तबसे वह उसके साथ तबतक वर्तमान रहता है, जबतक अभ्यासी को मोक्ष और परम शान्ति न मिल जाय। इसका स्पष्टीकरण छठे अध्याय में अच्छी तरह किया गया है।

इन्द्रियों में बिखरी चेतनधारों का केन्द्र आज्ञाचक्र का केन्द्र-विन्दु है। इन्द्रियों से चेतनधारों के हटने से इन्द्रियाँ विषयों में नहीं जा सकेंगी—विषयों से समेटी जाएँगी। केवल विचार-ही-विचार

उलझी वा घबड़ायी हुई बुद्धि जब समाधि वा ध्यान में स्थिर वा निश्चल होगी, तब समत्व वा समता प्राप्त होगी। जब सब कामनाएँ छूटती हैं, आत्मा-द्वारा आत्मा में ही सन्तुष्ट रहा जाता है, तब बुद्धि की स्थिरता वा स्थितप्रज्ञता आती है।

इतना सुन अर्जुन के भगवान से पूछा कि स्थितप्रज्ञ के क्या लक्षण हैं तथा वह किस प्रकार बोलता, बैठता और चलता है?

स्थितप्रज्ञ के बोलने, बैठने और चलने के विषय में किए गये प्रश्नों का कुछ भी उत्तर न देकर भगवान ने उसके ये लक्षण बतलाए कि वह कामनाओं का त्यागी, आत्मा-द्वारा आत्मा में ही सन्तुष्ट रहनेवाला, सांसारिक दुःख-सुख से दुःख-सुखी न होनेवाला, मनोविकारों से रहित और स्थिर बुद्धिवाला होता है। जैसे कछुआ अपने अंगों को अपने खोखले में समेट लेता है, उसी भाँति जो इन्द्रियों को उनके विषयों से समेट लेता है अर्थात् इन्द्रियों के अन्दर की चेतन-धारों वा सुरत की धारों को उनके केन्द्र में समेट लेता है, वह स्थितप्रज्ञ वा स्थिर बुद्धिवाला होता है। यदि कोई भोजन छोड़े और उपवासी होकर रहे, तो विषयों की ओर से उसकी इन्द्रियों की गति मन्द पड़ती है; परन्तु विषय-रस की स्मृति और उसकी इच्छा नहीं छूटती है। ये तो परब्रह्म परमात्मा वा सर्वेश्वर के ही दर्शन से छूटती हैं। विषय-चिन्तन से आसक्ति,

---

से यह सिमटाव नहीं होगा। इस अध्याय के श्लोक ५३ और ५४ में समाधि वा ध्यान की बात कही गई है। इसके अभ्यास से वर्णित सिमटाव होता है।

अर्जुन को व्यक्त रूप भगवान का दर्शन और उनका गहरा संग तो था ही, परन्तु उसकी विषय-भोग की इच्छा नहीं छूटी थी। (महाभारत की कथाएँ पढ़कर देखिए)

आसक्ति से काम, काम से क्रोध, क्रोध से मूढ़ता, मूढ़ता से अचेतता और इससे ज्ञान का नाश हो जाता है। ज्ञान नष्ट हुआ मनुष्य मृतक के तुल्य है। वह समता-विहीन, विवेकहीन और भक्तिरिक्त होता है। भक्ति-बिना शान्ति नहीं और शान्ति-बिना सुख कहाँ? जिस मनुष्य में सांसारिक भोग शान्त हो जाते हैं, सारी कामनाएँ समाप्त हो जाती हैं, ममता और अहंकार त्यागकर जो विचरण करता है, वही शान्ति पाता है। भजनाभ्यासी संयमी, भोगियों के जगकर विलास करने के समय सोता है और भोगियों के सोने के समय जगकर भजनाभ्यास करता है। पूर्ववर्णित शान्ति-प्राप्त पुरुष की स्थिति ब्राह्मी स्थिति है अर्थात् परम प्रभु परमात्मा को पाकर जीवन-मुक्ति में रहने की दशा है। इसे पा जाने पर कोई मोह में नहीं फँसता है। मृत्युकाल में भी इसी दशा में रहता हुआ शरीर त्यागकर, वह परब्रह्म परमात्मा में लय होता है और ब्रह्म-निर्वाण उसे प्राप्त होता है। इस अध्याय के उपदेशों का सार थोड़े शब्दों में यह है कि प्रथम श्रवण और मनन द्वारा आत्म-ज्ञान या सांख्य-ज्ञान प्राप्त करो। उस ज्ञान में अपने को रखते हुए सांसारिक कार्यों को अलिप्तता से वा कर्म-फल में अनासक्त रहते हुए करते रहो तथा समाधि-योगयुक्त परमात्म-भक्ति का अभ्यास करके ब्रह्म-साक्षात्कार, ब्राह्मी स्थिति, जीवन-मुक्ति, शान्ति और ब्रह्म-निर्वाण प्राप्त करके मोहों से छूटकर संसार के कर्तव्य कर्म करो।

॥ द्वितीय अध्याय समाप्त॥

● अर्जुन को व्यक्त रूप भगवान प्राप्त ही थे। फिर भी वह मोह में फँसा। भगवान ने उसे मोह छुड़ाने का उपदेश दिया।

अध्याय ३
अर्थ कर्मयोग

इस अध्याय का विषय कर्मयोग है।

फल पाने की इच्छा से बचा रहकर तथा मोक्ष पाने का अधिकारी अपने को बनाए रखकर, जीवन-भर कर्म करते रहना कर्मयोग है। प्राणी स्वभावतः ही कर्म करने में लगा रहता है। कर्म किए बिना कभी कोई रह नहीं सकता है। बाह्य इन्द्रियों को रोककर मन से इन्द्रिय-व्यापार करना मिथ्याचार वा दम्भ है; परन्तु मनोनिग्रह के साधनाभ्यास में यदि मन बहक जाय, तो बाह्य इन्द्रियों को उस बहक में नहीं दौड़ने देना ही उत्तम है; क्योंकि बाह्य इन्द्रिय के रुकते-रुकते मन भी रुकने लगता है। इसलिए–

मन जाय तो जाने दे, तू मत जाय शरीर।
पाँचो आतमा वश करे, कह गये दास कबीर।।

इससे यह नहीं कि इस भाँति कोई स्वाभाविक और कर्तव्य कर्मों के करने से छूट सकता है।

उचित कर्म करना ही उत्तम है, न कि उन्हें छोड़ देना; क्योंकि संसार के कर्तव्यों और परहितार्थ कर्मों को छोड़ने से सांसारिक हानि उमड़ आएगी और जनता में दुःख फैल जाएगा। इस हेतू कर्मयोग का साधन करते हुए, कर्तव्य करते रहना परमोचित है। राजर्षि जनक आदि ने भी इसी भाँति कर्मयोग से ही सिद्धि पायी है। कर्मयोग की साधना इस भाँति करना कि मन से इन्द्रियों को नियम में रखते हुए, कर्मफल में अनासक्त रहकर कर्मेन्द्रियों से कर्म करना तथा कर्मयोग के सहित त्रयकाल-संध्या के विशेष अभ्यास से साधक आत्मा में रत हो सके। त्रयकाल-संध्या के अभ्यास को छोड़कर केवल कर्मयोग का अभ्यासी बनने से

कोई आत्मरत होने में सफल नहीं हो सकेगा। इसीलिए भगवान श्रीकृष्ण भी संध्या किया करते थे।

बाह्ये मुहूर्त्ते उत्थाय वार्युपश्पृश्य माधवः।
दध्मौ प्रसन्नकरण आत्मानं तमसः परम्॥
(श्रीमद्भागवत, स्कन्द पुराण १० उत्तरार्ध, अ० ७०)

आत्मरत नहीं होने से न काम-रूप दुर्जय शत्रु का संहार होगा, न कर्मयोग की सिद्धि ही होगी। आत्मा में संलग्न या रत रहने का अभ्यास करते हुए रहकर कर्म करना और अध्यात्म-वृत्ति रखकर ईश्वरार्पण बुद्धि से ममता, राग तथा आसक्ति से रहित होकर कर्म करा। रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द; पाँचो विषयों से ज्ञानेन्द्रियाँ उच्च हैं। इन इन्द्रियों से मन उच्च है, मन से बुद्धि उच्च है और बुद्धि से आत्मा उच्च है। आत्मा को पहचानने से मन वश में होगा और तभी काम-रूप दुर्जय शत्रु का संहार होगा।

॥ तृतीय अध्याय समाप्त ॥

अध्याय ४
अथ ज्ञानकर्मसंन्यासयोग

इस अध्याय में ज्ञान, कर्म और संन्यास-योग का वर्णन किया गया है। ज्ञान, कर्म और संन्यास वा त्याग–तीनों से युक्त रहते हुए, संसार में जीवन बिताने का उपदेश इस अध्याय में दिया गया है।

यह उपदेश बहुत प्राचीन काल से चला आ रहा था; जैसे भगवान ने पहले सूर्य को, सूर्य ने अपने पुत्र मनु को और मनु ने अपने पुत्र इक्ष्वाकु को यह उपदेश दिया था। इस भाँति राजर्षियों की परम्परा में यह उपदेश बहुत काल तक चलता रहा; परन्तु दीर्घकाल की प्रबलता से यह नष्ट हो गया।

भगवान श्रीकृष्ण ने पाण्डव* अर्जुन को यह उपदेश देकर फिर से इसका प्रचार किया।

इस उपदेश का सारांश इस प्रकार है–जीवों को अनेक बार जन्म-मरण के चक्र में घुमते रहना पड़ता है। साधारण लोगों को बीते हुए अनेकानेक जन्मों का स्मरण नहीं रहता है; परन्तु भगवान श्रीकृष्णवत् महायोगेश्वर को यह स्मरण रहता है। साधारण लोग मायावश होकर जन्म लेते हैं; परन्तु महायोगेश्वर माया को स्ववश में रखते हुए, संसार के कर्मों का संपादन करने के लिए जन्म-धारण करते हैं। भगवान श्रीकृष्ण ऐसे ही थे। ऐसे महापुरुष पुरुषोत्तम अपने आत्मस्वरूप का प्रत्यक्ष ज्ञान रखने वाले, अपने को अजन्मा और अविनाशी प्रत्यक्ष रूप में जानते हैं। माया को स्ववश में रखते हुए, जन्म-धारण कर संसार के कार्यों

***राजा पाण्डु के पुत्र होने के कारण अर्जुन पाण्डव कहलाते थे; किन्तु स्वयं पाण्डु भी कौरण ही थे।**

का संपादन करने को दिव्य जन्म और दिव्य कर्म जानना चाहिए। ऐसे जन्म कर्म के जाननेवाले का पुनर्जन्म नहीं होता है। (क्योंकि इसका पूर्ण ज्ञान आत्मज्ञान के बिना नहीं होता। केवल बौद्धिक ज्ञान पूर्ण नहीं होता। श्रवण, मनन निदिध्यासन और अनुभव ज्ञान के इन चारो अंगों में पूर्ण होने को ही पूर्ण ज्ञान कहते हैं। समाधि जन्य अनुभव ज्ञान हुए बिना, आत्मज्ञान नहीं होता है।)

श्रीमद्भगवद्गीता, अ० ७, श्लोक २४ में व्यक्त अथवा इन्द्रियगम्य रूप को ही केवल जाननेवाले और इन्द्रियातीत रूप को नहीं पहचाननेवाले को मूढ़ात्मा कहा गया है। मूढ़ात्मा को भगवान के दिव्य जन्म और कर्म का ज्ञान हो और उसको पुनर्जन्म से मुक्ति मिले, कैसे संभव है? विषयानुरक्ति, भय और क्रोध से रहित भगवद्भक्त ज्ञानरूप तप से पवित्र होकर भगवान में लीन हो जाते हैं। जब कोई श्रवण, मनन, निदिध्यासन और अनुभव; ज्ञान के इन चारो अंगों में निष्णात और परिपक्व होता है। तभी वह ज्ञान रूप तप से पवित्र होता है। चाहे मोक्षार्थी बनकर, चाहे इस लोक और स्वर्ग आदि परलोक का कामार्थी बन, जो जिस आकांक्षा से भगवान का आश्रय लेते हैं, वे वैसे ही फल भगवान से प्राप्त करते हैं। देवताओं की आराधना से किसी को मोक्ष नहीं मिलता है।

गुणों और कर्मों के विभागानुसार चार वर्णों की रचना ईश्वरकृत है, फिर भी ईश्वर अकर्ता ही रहता है। ईश्वर भगवान कृष्ण को कर्म स्पर्श नहीं करता है।*

*** यः स नारायणो नाम देवदेवः सनातनः।**
तस्यांशो वासुदेवस्तु कर्मणाऽन्ते विवेश ह॥

अर्थ–जो देवताओं के भी देवता सनातन नारायण हैं, उनके अंश-रूप वासुदेवजी कर्म के अंत होने पर उन्हीं में प्रवेश कर गये।

जो ईश्वर को भली भाँति जानता है, वह कर्म-बन्धन से नहीं बँधता है।

भगवान के इन्द्रियातीत आत्मस्वरुप के प्रत्यक्ष ज्ञान से विहीन, उनके केवल इन्द्रिय-गम्य रूप की प्रत्यक्षता-प्राप्त भक्त को

यह श्लोक विदित करता है कि भगवान श्रीकृष्ण को भी मानव-शरीर में किये कर्मों का फल स्वर्ग में भोगना पड़ा था। कर्मों का स्पर्श नहीं होता है और फिर स्वर्ग में जा कर्मफल-भोग के अंत होने तक वहाँ रहने के बाद अपने अंशी में जा मिलता है—ये दोनों बातें 'महाभारत' में ही लिखी है। यह बात भी प्रसिद्ध है कि भगवान श्रीकृष्ण को एक व्या भ्रमवश उनके चरण में तीर मारा था, जो उनके इस लोक से सिधार जाने का कारण हुआ। मानो स्वयं श्रीकृष्ण भगवान ने उस तीर को इस लोक के त्यागने का कारण बना लिया था। उस तीर में लगा हुआ लोहा वही था जिससे यदुवंश का नाश होना था, मुनियों ने ऐसा शाप दिया था। मानो इस शाप को भी भगवान ने स्वीकार किया था। यह इसलिए कि त्रेतायुग के रामावतार में भगवान ने वानरराज बालि का वध छिपकर किया था। उसी कर्मों का वह प्रतिफल था। तुलसीकृत रामायण में तो श्रीलक्ष्मीजी ने गुह निषाद से श्रीराम-सीता के वनवास के कष्ट का कारण यह बताया गया है—

काहु न कोउ सुख-दुख कर दाता।
निज कृत करम भोग सुनु भ्राता॥

इससे जानने में आता है कि कर्मफल श्रीभगवान भी भोगते हैं। बात यह है कि जैसे सौर-जगत में रहनेवालों पर सूर्य का प्रभाव अनिवार्य रूप से पड़ता रहेगा या कि जैसे किसी राज्य में रहनेवालों पर उस राज्य का विधान (कानून) लागू रहेगा, उसी भाँति कर्म-मण्डल में रहनेवाले पर कर्म के फल का मिलना अनिवार्य रूप से होता रहेगा। इस नियम को स्वयं भगवान भी नहीं तोड़ते हैं। इस नरलोक से लेकर देहधारियों के जितने भी स्वर्गाधिक उत्तमोत्तम

उपर्युक्त प्रकार की अभिज्ञता (जानकारी) नहीं होती है और न वह कर्म-बन्धन से छूट सकता है। भगवत्स्वरूप को अच्छे प्रकार से जाननेवालों ने कर्तव्य कर्म किए हैं। सब लोगों को उसी प्रकार कर्म करना चाहिए।

लोक हैं, सब-के-सब कर्म-भवन वा कर्म-मण्डल के अन्तर्गत है। इनमें से किसी में जाओं, कर्मफल का भोग अनिवार्य रूप से होता रहेगा।

हाँ, यदि देहधारियों के लोकों के ऊपर ब्रह्म-निर्वाण-पद में पहुँचो, तो वहाँ अवश्य ही कर्मफल के भोग से सम्पूर्ण रूपेण रहित हो जाओगे। कर्मयोग के सहित परमात्मा-भक्ति के साधन से ही उपर्युक्त सर्वोच्य पद की प्राप्ति होगी—अन्यथा नहीं। कर्म-योग और परमात्मा-भक्ति में ज्ञान, संन्यास, विषय-भोग की लालसा का त्याग, कर्मफल का त्याग, सफलता और विफलता में तटस्थता और आत्म-ज्ञान ओत-प्रोत रहते हैं।

●विद्वानों एवं साधकों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से 'विकर्म' का अर्थ किया है; यथा—

'कर्मणः शास्त्रविहितस्य हि यस्माद् अपि अस्ति बोद्धव्यं बोद्धव्यं च अस्ति एवं विकर्मणः प्रतिषिद्धस्य, तथा अकर्मणः च तूष्णींभावस्य बोद्धव्यम् अस्ति इति त्रिषु अपि अध्याहारः कर्त्तव्यः।'

अर्थ—कर्म का—शास्त्रविहित कर्म का भी रहस्य जानना चाहिए; विकर्म का—शास्त्रवर्जित का भी रहस्य जानना चाहिए और अकर्म का—चुपचाप बैठे रहने का भी रहस्य समझना चाहिए।,

(शांकर भाष्य का भाषानुवाद)

'विकर्मणि च, नित्य नैमित्तिक तथा काम्य रूपेण तत्साधन द्रव्यार्ज-नाद्या कारेण च विविधताम् आपन्नं कर्म, विकर्म।'

अर्थ-नित्य, नैमित्तिक और काम्य रूप से तथा उसके साधन द्रव्योपार्जनादि रूप से विविध भावों को प्राप्त कर्म, विकर्म कहलाते हैं। (श्रीरामानुज-भाव्य। अनुवादक— हरिकृष्ण दास गोयनका)

कर्म और अकर्म क्या हैं, इस विषय में बुद्धिमान लोग भी मोह में पड़े हैं।

'कर्म', 'विकर्म' (निषिद्ध कर्म)● और 'अकर्म' का भेद जानना चाहिए। कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म देखना— इस भाँति कर्म में गूढ़ता है। इस गूढ़ता-भरे कर्म के करनेवाले

लोकमान्य बालगंगाधर तिलक के अनुसार—'निषिद्ध कर्म वा तामस कर्म, मोह और अज्ञान से हुआ करते हैं, इसलिए उन्हें विकर्म कहते हैं। मीमांसकों को यज्ञ-याग आदि काम्य कर्म इष्ट हैं, इसलिए उन्हें इसके अतिरिक्त और सभी कर्म 'विकर्म' जँचते हैं। अपने माँ-बाप को कोई मारता-पीटता हो, तो उसको न रोककर चुप्पी मारकर बैठा रहना, उस समय व्यावाहारिक दृष्टि से अकर्म अर्थात् कर्मशून्यता हो तो भी, कर्म ही—अधिक या कहें; विकर्म है; और कर्म-विपाक की दृष्टि से उसका अशुभ परिणाम हमें भोगना ही पड़ेगा।' विकर्म= विपरीत कर्म। गीता-रहस्य, पृ० ६७५ और ६७७।'

महात्मा गाँधीजी महाराज के अनुसार, 'विकर्म का अर्थ निषिद्ध कर्म है।'

—अनासक्तियोग (श्लोक-सहित गीता के पृष्ठ ७९)

शब्दकोष में 'वि' का अर्थ इस भाँति है—यह उपसर्ग है, जो विशेष, निषेध तथा वैरूप्य (विरूपता, कदर्य्यता, क्षुद्रता) के अर्थ में शब्दों के पहले लगाया जाता है। —और विकर्म का अर्थ 'दुराचार' है। श्रीमद्भगवद्गीता के अध्याय ४ श्लोक १७ में कर्म, विकर्म और अकर्म को जानने के लिए कहा गया है। वहाँ प्रसंगानुसार 'विकर्म' का जो अर्थ श्रीशंकराचार्यजी महाराज, श्रीरामानुजाचार्यजी महाराज, श्री बालगंगाधर तिलकजी महाराज और श्रीमहात्मा गाँधीजी महाराज ने बताया है, मुझे वही ठीक जँचता है; क्योंकि कर्म-ज्ञान के लिए सर्वप्रथम विधिकर्म और निषिद्ध कर्म (दोनों ही) का ज्ञान होना

को बुद्धिमान, योगी और समस्त कर्तव्यों का करनेवाला जानना चाहिए। पूर्ण आत्म-ज्ञान-प्राप्त महापुरुष योगेश्वर कर्म में अकर्म रहते हैं। परन्तु इस ज्ञान में जो अपूर्ण है, वह अकर्म का ढोंग रखता है और अकर्म में कर्म का कर्ता कहलाता है। और वह भी अकर्म में ढोंगी है, जो बाहर से कर्मत्यागी है, परन्तु मन से

आवश्यक है। गोस्वामी तुलसीदाजी महाराज भी यही कहते हैं–

'विधि निषेध मय कलिमल हरनी।
करम कथा रविनन्दिनि बरनी॥'

(रामचरितमानस)

केवल विधि (वैध) कर्म का ही ज्ञान हो, निषिद्ध (अवैध) कर्म का ज्ञान नहीं हो और 'विकर्म' का अर्थ विशेष कर्म करके निषिद्ध कर्म के जानने और बताने की आवश्यकता नहीं समझी जाय, तो कर्म का ज्ञान अवश्य अपूर्ण रहेगा। ऐसी अवस्था में यदि कोई निषिद्ध कर्मों (चोरी-डकैती आदि) को ही पूरा मन लगाकर करे तो ये कर्म उक्त कथनानुसार विकर्म (विशेष कर्म) हो जाएँगे और ऐसे विकर्म (विशेष कर्म) अवश्य ही महा अनिष्टकर होंगे। यदि कहा जाय कि कर्म में अकर्म (अर्थात् अहंकार और फल-आश त्याग कर कर्म करना) विधि-कर्म है तथा अकर्म में कर्म (अर्थात् बाहर से कर्म-शून्यता और अन्तर में मानस कर्मों को करना) निषिद्ध कर्म है, तो जानना चाहिए कि बाहर से कर्म-शून्यता और अन्तर में सद्विचार तथा ब्रह्म-चिन्तन में संलग्नता, अकर्म में कर्म होते हुए भी, निषिद्ध कर्म कदापि नहीं है। बाहर में परोपकारादि शुभ कार्य और निज कर्तव्य करने का कर्म और अन्तर में ईश-स्मरण (यथा–'मामनुस्मर युद्धय च', गीता अ० ८, श्लोक ७)–यद्यपि यहाँ बाहरी कर्म से मन का मेल पूरा-पूरा ठीक मिला नहीं है (अर्थात् बाहरी कर्म के साथ 'विकर्म' का अर्थ विशेष कर्म

विषयों में रमण करता रहता है। पूर्ण आत्म-ज्ञानी ही पण्डित कहलाता है। वह सब आरम्भ, कामना और संकल्प से रहित रहता है। उसके सब कर्म ज्ञानाग्नि से भस्म हो जाते हैं। वह कर्मफल-त्यागी, सदा सन्तुष्ट और किसी आश्रय की लालसा से विहीन होता है। वह कर्तव्य कर्म में प्रवृत रहकर भी अकर्मी

करनेवाले के अनुकूल नहीं है), तो भी ऐसे कर्म को निषिद्ध कर्म नहीं कह सकते। इस हेतु भगवद्गीता के उक्त श्लोक में जो कर्म-ज्ञान का आदेश है, उसमें निषिद्ध कर्म को ही विकर्म कहा गया है, ऐसा जान पड़ता है।

विकर्मी (निषिद्ध कर्म का कर्मी) होने से बचा रहकर, कर्मी में अकर्मी (कर्तव्य कर्म बाह्य इन्द्रियों से करते हुए मन से उस कर्म के करने का अहंकार और कर्म-फल का त्याग) रहकर और अकर्मी में कर्मी (बाहर से अकर्मी और मन से कर्मी) रहने का दम्भ छोड़कर, कर्मयोग के सहित परमात्म-भक्ति का साधन ठीक बनेगा।

इस अध्याय में बताये गये यज्ञों द्वारा यह साधन क्रमशः पूर्णता की ओर चलते-चलते समाप्त हो जायेगा।

केवल बुद्धि शक्ति से ही मोक्ष का यह साधन समाप्त होने योग्य नहीं है। यह ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त करने वा परम मोक्ष वा प्रत्यक्ष-अपरोक्ष आत्म-ज्ञान जीते-जी पा लेने पर ही कोई पूर्ण कर्मयोगी वा संन्यासी वा स्थितप्रज्ञ वा समत्व-प्राप्त पुरूष वा सन्त कहलाने का अधिकारी हो सकता है।

जो कर्म में अकर्मी होने का और विकर्म के त्याग का प्रयास आरम्भ करके उसमें आगे बढ़ता जाता है, वह सांसारिक भोगों से अनासक्त होता जाता है। उससे उपर्युक्त साधन बनते-बनते पूर्णरूप से बन जाता है और अनासक्त रहने के कारण, संसार में भी वह शान्ति से रह सकता है।

अध्याय २, श्लोक ५३ में तो स्पष्ट ही कहा गया है कि समाधि

रहता है। 'कर्म कि होहिं स्वरूपहि चीन्हें।' (तुलसी-कृत रामायण) ऐसे पुरूष का मन उसके वश में रहता है। वह द्वन्द्व और द्वेष से रहित रहता है और सफलता तथा विफलता में तटस्थ (विकार-विहीन) रहता है। वह यज्ञार्थ अर्थात् परहित-हेतु कर्म करता है। वह सब कर्मों को ब्रह्ममय देखता है। होम, होम की

में बुद्धि (प्रज्ञा) जब स्थिर होगी, तब समत्व प्राप्त होगा। जब जिसकी बुद्धि अर्थात् प्रज्ञा स्थिर होती है, तब वह स्थितप्रज्ञ होता है और तभी वह समत्व-प्राप्त पुरूष होता है। चाहे स्थितप्रज्ञ कहो वा समत्व-प्राप्त पुरूष कहो, एक ही बात है। गीता के अनुसार ऐसा ही पुरूष पूर्ण कर्मयोगी होता है; परन्तु गीता कहती है कि समाधि में ही यह दशा प्राप्त होती है। तब समाधि प्राप्त करने का साधन छोड़कर केवल बुद्धिबल से ही इस दशा में आने का प्रयास गीता के प्रतिकूल ही नहीं, वरन् अयुक्त और असम्भव भी है। समाधि-साधन का तिरस्कार कर 'केवल बुद्धि-बल के प्रयास से ही समत्व वा स्थितप्रज्ञता को प्राप्त कर लेना गीता के अनुकूल है'-ऐसा कहना मिथ्यावाद के अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है? हाँ, ऐसा कहना कि बुद्धि-बल से ओर समाधि के साधन से-दोनों से समत्व प्राप्त करने का गीता का आदेश है, यह पूर्णरूप से गीता-ज्ञान के अनुकूल मानना पड़ेगा। विकर्मी होने से बचते हुए, कर्म में अकर्मी रहने के भाव को बुद्धिबल से बढ़ाते रहो और साथ-ही-साथ समाधि का भी अभ्यास करते रहो, तो अन्त में पूर्ण कर्मयोगी बनकर ब्रह्मनिर्वाण जीते-जी प्राप्त कर लोगे। श्रीगीताजी का यही सच्चा उपदेश है।

कोई यह कहते हैं कि 'वि' का अर्थ जब विशेष है तो 'विकर्म' का अर्थ विशेष कर्म होगा ही और विकर्म के लिए निम्नोक्त प्रकार के अर्थों को जानना चाहिए। (१) 'कर्म का अर्थ है स्वधर्माचरण की बाहरी स्थूल किया। इस बाहरी किया में चित्त को लगाना ही विकर्म है। स्वधर्माचरण-रूपी कर्म करते हुए यदि मन का विकर्म

सब सामग्रियाँ, हवि, अग्नि, होम करनेवाला; ये सब-के-सब ब्रह्म हैं। (ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञान बिना अपरोक्ष ब्रह्म-ज्ञान के नहीं होता है। केवल श्रवण, मनन और भावनावाले को यह ज्ञान कदापि नहीं हो सकता।) इस प्रकार कर्मों के साथ ब्रह्म का मिलाप देखनेवाला ब्रह्म को प्राप्त करता है।

उसमें नहीं जुड़ा है, तो उसे धोखा समझना चाहिए।' (२) 'कर्म के साथ मन का मेल होना चाहिए। इस मन को ही गीता 'विकर्म' कहती है।' (३) 'कर्म में विकर्म उड़ेलने से अकर्म होता है। कर्म में विकर्म डाल देने से वह अकर्म हो जाता है मानो कर्म को करके फिर उसे पोंछ दिया हो,' इत्यादि। अब प्रत्येक संख्या के अर्थ पर विचार करना आवश्यक है।

(१) 'कर्म' का अर्थ 'स्वधर्माचरण की बाहरी स्थूल किया' यदि कोई कहता है तो यह उसका केवल अपना अर्थ है, सबके माननेयोग्य यह अर्थ नहीं है। जिस धर्माचरण में केवल बाहरी ही कर्म, मन के मेल के बिना ही होता है, उसको आडम्बरी कर्म कहना चाहिए, न कि यथार्थ में धर्मा-चरण-कर्म। क्या धर्माचरण-कर्म की यह परिभाषा है कि बिना मन के योग के केवल बाह्य आडम्बरी कर्म करना? कदापि नहीं। मन का योग तो धर्माचरण-कर्म में होना ही चाहिए। तभी वह धर्माचरण कह ही नहीं सकते; क्योंकि धर्म का मूल सत्य है और बिना मन के मेल के धर्म-कर्म में सत्यता नहीं है। धर्माचरण-कर्म में मन का मेल रखना ही पड़ेगा। कोई भी कर्म बिना मन के योग के पूर्ण रूप से ठीक नहीं बन सकता। यथार्थ में जो कुछ किया जाय, उसे कर्म कहते हैं। उसमें (क) धर्माचरण-कर्म वह है, जिसे विधि कर्म अर्थात् धर्म-शास्त्रोक्त कर्तव्य कर्म कहते हैं और (ख) निषिद्ध कर्म वह है, जिसे अधर्माचरण-कर्म अर्थात् ध र्मशास्त्र से मना किया हुआ अकर्तव्य कर्म कहते हैं। इसको ही भगवद्गीता में 'विकर्म' की संज्ञा दी गई है। क्या धर्मशास्त्र, ध र्माचरण-कर्म बिना मन के योग के ही करने की आज्ञा देता है?

विविध प्रकार के यज्ञ करनेवाले होते हैं। कोई देव-पूजन-रूप यज्ञ करते हैं। (यह यज्ञ तब पूर्ण होता है, जब पूज्य देव के आत्मस्वरूप का प्रत्यक्ष दर्शन पूजक को हो जाता है) कोई इन्द्रियों का संयमरूप यज्ञ करते हैं। (यह यज्ञ इन्द्रियों की चेतन-धारों को अन्तर्मुखी करके केन्द्र में केन्द्रित करने से होता

इसका उत्तर सिवा 'नही' के 'हाँ' नही हो सकता।

(२) 'कर्म के साथ मन के मेल को गीता 'विकर्म' कहती है।'

श्रीशंकराचार्यजी महाराज, रीरामानुजाचार्यजी महाराज, लोकमान्य बालगंगाधर तिलकजी महाराज और महात्मा गाँधीजी महाराज ने गीता के अपने-अपने अर्थों में यह नहीं बतलाया है कि उपर्युक्त बात को गीता 'विकर्म' कहती है। उन बड़े लोगों को भी 'विकर्म' का अर्थ विशेष कर्म अवश्य ज्ञात होगा; परन्तु गीता में जहाँ कर्म, विकर्म और अकर्म के बारे में कहा गया है, वहाँ 'विकर्म' का अर्थ 'विशेष कर्म' कहना उनको नहीं जँचा। कर्म-प्रसंग में निषिद्ध कर्म को जानना और जनाना उन्हें आवश्यक जान पड़ा। स्वयं गीता अपने अध्याय ४, श्लोक २० में कहती है-

त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृतोऽपि नैव किंचितकरोति सः।।

अर्थ-कर्मफल की आसक्ति छोड़कर जो सदा तृप्त और निराश्रय है, (अर्थात् जो पुरूष कर्मफल के साधन की आश्रयभूत ऐसी बुद्धि नहीं रखता कि अमुक कार्य की सिद्धि के लिए अमुक काम करता हूँ।) कहना चाहिए कि <u>वह कर्म करने में निमग्न रहने पर भी कुछ नहीं करता।</u>

-लोकमान्य बालगंगाधर तिलक

'जिसने कर्मफल का त्याग किया है, जो सदा सन्तुष्ट रहता

है।) कोई शब्दादि विषयों को इन्द्रियाग्नि में होम कर यज्ञ करते हैं। (इन्द्रियों की चेतनधारों को अन्तर्मुख करके केन्द्र में केन्द्रित) ऐसा करने से वहाँ अन्तर्ज्योति उदित होती है तथा उस ज्योतिमण्डल में अनहद ध्वनि अनवरत रूप से ध्वनित होती रहती है, मानो उस प्रकाशाग्नि में शब्द की आहुति पडती है। और दूसरे सब विषय भी उस प्रकाश-मण्डल के अभ्यन्तर उदित हो-होकर उसमें लीन होते रहते हैं। मानो सब सूक्ष्म विषयों की आहुतियाँ उस प्रकाशाग्नि में पड़कर भस्म होती हैं। कोई इन्द्रियों के कर्मों को तथा प्राण के व्यापारों को ज्ञान-दीप की प्रज्वलित आत्म-संयमरूप योगाग्नि में होमते हैं। (इन्द्रियों और प्राणों के

है, जिसे किसी आश्रय की लालसा नहीं है, वह कर्म में अच्छी तरह लगा रहने पर भी कुछ नहीं करता, ऐसा कहा जा सकता है।' —महात्मा गाँधी। (रेखांकण इस लेखक का है) इसके द्वारा गीता कर्म में निमग्न रहने वा अच्छी तरह लगे रहने अर्थात् अत्यन्त मनोयोग से कर्म करने कहती है। पर यहाँ मन लगाकर कर्म करने के लिए 'विकर्म' शब्द का प्रयोग नहीं करती है। इससे यहाँ अच्छी तरह प्रगट होता है कि गीता 'कर्म के साथ मन के मेल' को 'विकर्म' कदापि नहीं कहती है।

(३) 'कर्म में विकर्म उड़ेलने से अकर्म होता है। कर्म में विकर्म डाल देने से वह अकर्म हो जाता है, मानो कर्म करके फिर उसे पोंछ दिया हो।'

ऐसा क्यों? इसको युक्ति-युक्त रीति से कि 'मनोयोग से कर्म करने पर वह अकर्म क्यों हो जाता है, 'समझायें बिना ही ठीक नहीं है। पूर्ण मनोयोग से किया हुआ कर्म अकर्म हो जाएगा, यह मानने योग्य नहीं है। प्रथम तो 'विकर्म' का अर्थ 'मनोयोगयुक्त कर्म' लगाना भगवद्गीता के अनुकूल नहीं है। तब भगवद्गीता के आधार पर उपर्युक्त बातें कहनी पूर्णरूपेण असंगत है।

व्यापार चेतन-धारों के कारण से ही होते हैं। साधन-द्वारा इन चेतन-धारों को अन्तर में समेटकर केन्द्रित करने से ज्ञान-दीपक जलता है।)

जैसे मन्दिर दीपक बारा।
ऐसे जोति होत उजियारा॥

(तुलसी साहब)

यह अवश्य ही योगाग्नि का तेज है। इसको पाकर साधक वा इस यज्ञ को करनेवाला पूर्ण आत्म-संयमी हो जाता है। कोई परोपकारार्थ द्रव्य-दान-रूप यज्ञ, कोई तप-रूप यज्ञ, कोई योगाभ्यास-रूप यज्ञ, कोई स्वाध्याय-रूप यज्ञ और कोई ज्ञान-यज्ञ

नाम का तेल सुरत की बाती, ब्रह्म अग्नि उद्गार रे।
जगमग जोत निहारू मन्दिर में, तन मन धन सब वारू रे॥

(कबीर साहब)

अणिमादि सिद्धियों के प्रलोभनों को हवन करते हैं।

अपान में प्राणवायु को, प्राण में अपान को होमना; दोनों का अवरोध करना, प्राणों को प्राण में होमना तथा शब्दादि विषयों को इन्द्रियाग्नि में होमना; ये सब समाधि के साधन हैं। आगे इन साधनों पर यथासम्भव प्रकाश डाला जाएगा। ये विशेष रूप से गुरुगम्य है।

प्राण एवं प्राणवायु दोनों ही दृष्टियोग के अभ्यास से रुकते हैं।

द्वादशांकुल पर्यन्ते नासाग्रे विमलेऽम्बरे।
संविद्दृशि प्रशाम्यन्त्यां प्राणस्पन्दो निरुध्यते॥३२॥

भ्रूमध्ये तारकालोकशान्तावन्तमुपागते।
चेतनैकतने बद्धे प्राणस्पन्दो निरुध्यते॥३३॥

(अर्थात् ज्ञान-ग्रहण और ज्ञान-दान-रूप यज्ञ) करते हैं। ये सब कठिन व्रती और प्रयत्नशील याज्ञिक होते हैं। प्राणायाम में निरत, प्राणवायु और अपानवायु दोनों को रोककर अपानवायु को प्राणवायु में और प्राणवायु को अपानवायु में होमते हैं।
(दृष्टि-योग से सुषुम्ना में ध्यान स्थिर हो जाने पर भी यह होम हो सकता है।) अथवा अध्याय ६ में कहे गये नासाग्र में देखने के अभ्यास से और दूसरे भोजन का संयम कर, प्राणों में प्राण होमते हैं। (अर्थात् इन्द्रियगत चेतन-धारों*को दृष्टियोग-द्वारा एकत्र कर वा कर्मेन्द्रियों की चेतन-धाराओं को ज्ञानेन्द्रियों की की चेतन-धाराओं से मिलाकर, चेतन-धाराओं के रूप प्राणों को चेतन-धाराओं के रूप प्राणों में होमते हैं। आहार का संयम नहीं

चिरकालं हृदेकान्तव्योम संवेदनान्मुने।
अवासनमनोध्यानात्प्राणस्पन्दो निरुध्यते॥३४॥

(शाण्डिल्योपनिषद्)

अर्थ–'जब संवित् (सुरत) नासाग्र से बारह अंगुल पर स्वच्छ आकाश में स्थिर हो, तो प्राण का स्पन्दन रुद्ध हो जाता है।'

'जब चेतन (सुरत) भौंओ के बीच के तारकलोक में पहुँचकर स्थिर होता है, तो प्राण की गति बन्द हो जाती है।'

'हृदयाकाश में संकल्प-विकल्प-रहित और वासनाहीन मन से बहुत दिनों तक ध्यान करने से प्राण की गति रूक जाती है।'

उपनिषद् के इन वाक्यों का यदि कोई विश्वास नहीं करे तो उसे वर्णित साधन करके देखना चाहिए। प्राण के स्थिर होने पर, प्राण में अपान, अपान में प्राण का हवन होगा। दृष्टियोग-ध्यान से यह यज्ञ, प्राणायाम के कष्ट के बिना ही हो जाएगा। यह कहा जा सकता है कि दृष्टियोग-ध्यान-साधन प्राणायाम करने का सुगम और निरापद साधन है।

मण्डल-ब्राह्मणोपनिषद् के ब्राह्मण २ में शाम्भवी मुद्रा और

रखने से उक्त योगाभ्यास नहीं हो सकता है। अध्याय ६ में इस संयम को आवश्यक बतलाया गया है। पहले जब दृष्टियोग के अभ्यास से युगल नेत्रों की चेतन-धाराएँ जुटकर एकविन्दुता ग्रहण करती हैं, तब सब इन्द्रियों की चेतनधाराएँ उसी विन्दु में खिंचकर, सब मिलजुलकर एक हो जाती हैं। इस प्रकार प्राण का प्राणों में होम होता है।*

परन्तु इस होम को बिरला ही गुरुमुख जानता है और करता है।**

उक्त यौगिक यज्ञ में ब्रह्म परमात्म-रूप अग्नि प्रत्यक्ष होती है। तब याज्ञिक को पूर्ण आत्म-ज्ञान प्राप्त होता है। उसके किये हुए अन्यान्य सब यज्ञ उस ब्रह्माग्नि में आप-से-आप ही

नासाग्र का लक्ष्य बतलाकर दृष्टियोग-साधन ही बताया है तथा इसके गुणों का वर्णन करते हुए कहा है कि-तद्भ्यासान्मनः स्थैर्यम्। ततोः वायु-स्थैर्यम्।' अर्थात् 'उसके अभ्यास से मन की स्थिरता आती है। इससे वायु स्थिर होता है।

***चेतन आत्मा को भी प्राण कहते हैं। देखो प्रश्नोपनिषद्, प्रश्न ६ का शांकर भाष्य।**

***इस होम में सुषुम्न-विन्दु हवन-कुण्ड है, युगल नेत्रों की चेतनधाराएँ अरणि वा समिधा हैं और सब इन्द्रियों की चेतन-धाराएँ हवि हैं, ऐसा जानना चाहिए।**

****योगिराज श्यामाचरण लाहिड़ी महाशयजी की संस्था की 'योग-संगीत' नामक पुस्तिका में इसी आशय का निम्नलिखित पद्य है-**

आनन्दे आनन्द बाड़े प्रति क्षण,
दशेन्द्रिय थाके शून्ये ते बन्धन।
रिपुचय पराजय, सकलि आनन्दमय,
अनुभव मात्र रय, आर सब पाय लय,

आहुति होकर पड़ जाते हैं। वह याज्ञिक कर्म-रहित हो जाता है। 'कर्म कि होहिं स्वरूपहि चीन्हे।' वह अहं-पद से ऊपर उठ जाता है। इस पद पर आरूढ़ रहकर अपने कर्तव्य कर्मों को करते हुए वह अकर्ता बना रहता है। इस (यज्ञों) को जाननेवाले याज्ञिक उपर्युक्त यज्ञों के द्वारा अपने पापों (अर्थात् सर्व कर्म-बन्धनों) को भस्मीभूत करते हैं। यज्ञ से बचा हुआ अमृत खानेवाले सनातन ब्रह्म को प्राप्त करते हैं। यज्ञ से वा परोपकारार्थ

जेमन जीवने जीवन थाके ना।।
और—तीन दिन परे त्रिगुणेर परे,
श्रोतेर जलेते डूबिल प्रतिमा।
दशमीर दशा ए दशम दशा,
कि बले बुझाव बुझाते पारि ना।।
पार्वती चले गेलेन कैलाशे,
मिशेछेन सती कूटस्थ पुरुषे।
सुखे कि दुखे ते विषादे हरषे,
के आमी आमार मनेइ आसे ना।।

इन पद्यों में वर्णित कर्म भी उपर्युक्त यौगिक होम से ही होता है।

जो परोपकार से बचे हुए धन को अपने काम में लाता है और दूसरे सब उक्त यज्ञों को करता है, वह सनातन ब्रह्म को निःसंशय प्राप्त करेगा। इन्द्रियाग्नि में शब्दादि विषयों को होमने को कुछ लोग भजनादि सुनना बताते हैं; परन्तु शब्दादि पंच विषयों को परमात्म-सम्बन्धी भक्ति-भाव में लाकर उन-उन विषयों को इन्द्रियों से युक्त कर देना होता है। इस तरह इन्द्रियाग्नि में विषयों को होमकर सनातन ब्रह्म की प्राप्ति हो, सम्भव नहीं है। इस यज्ञ का दूसरा प्रकार सूक्ष्म है। वह यह है कि इन्द्रियगत चेतन-धारों को क्रिया-विशेष द्वारा अपने अन्दर में समेटकर, उन्हें एक बना, बाह्य

दिए हुए धन से बचे हुए धन का उपयोग करनेवाले होकर सनातन ब्रह्म को प्राप्त करते हैं। यज्ञ न करनेवाले के लिए यह लोक सुखकर नहीं हो सकता है। तब उसे परलोक का सुख और मोक्ष कहाँ से हो सकता है?

द्रव्य-यज्ञ से ज्ञान-यज्ञ श्रेष्ठ है। ज्ञान में सम्पूर्ण कर्मों का अन्त हो जाता है। इस विषय को, आत्म-तत्त्व के जाननेवाले ज्ञानियों के पास जाकर, उन्हें प्रणाम और उनकी सेवा कर विनीत भाव से प्रश्न करके उनसे जानना चाहिए।

इन्द्रियों से ऊपर रहकर ब्रह्म-ज्योति का दर्शन करो। अनहद नादों को सुनो, तत्सम्बन्धी आन्तरिक रस का आस्वादन करो, चेतन-धार के चेतन-धार से मिलन के स्पर्श-सुख से सुखी होओ, वा परा प्रकृति-रूप जीव को अपरा और परा प्रकृतियों के स्वामी क्षराक्षर पुरूष-पर पुरुषोत्तम से मिलाओ और तत्सम्बन्धी स्पर्शसुख भोगो। तुरीयावस्था में मिलनेवाली देव-दुर्लभ दिव्य गन्ध को प्राप्त करो। ऐसा होता है; इसके लिये संतवाणी सुनो-

श्रवण बिना धुनि सुनै, नयन बिनु रूप निहारै।
रसना बिनु उच्चरै, प्रशंसा बहु विस्तारै॥
नृत्य चरण बिनु करै, हस्त बिनु ताल बजावै।
अंग बिना मिली संग, बहुत आनन्द बढ़ावै॥
बिनु शीश नवै जहँ सेव्य को, सेवक भाव लिये रहै॥
मिलि परमातम सों आतमा, परा भक्ति 'सुन्दर' कहै॥

(सुन्दरदासजी)

भजन में होत आनन्द आनन्द।
बरसत विशद अमी के बादर, भीजत है कोइ सन्त॥
अगर बास जहँ तत की नदिया, मानो धारा गंग।
कर स्नान मगन हो बैठो, चढ़त शब्द के रंग॥

(कबीर साहब)

ज्ञान-प्राप्त पुरुष को अपने में और परमात्मा में सारा ब्रह्माण्ड दरसता है। यह ज्ञान केवल बौद्धिक ही नहीं होता है, वरंच श्रवण, मनन और निदिध्यासन की समाप्ति के पश्चात् पूर्ण समाधि-द्वारा अनुभूत होकर अपरोक्ष रूप से प्राप्त होता है।

विमल विमल बानी उठै, अदबुद असमाना हो।
निर्मल बास निवास में, कर कर कोइ जाना हो।।

दूसरा पाठ–

निशि बासर जहाँ अगर बहे.........।
(तुलसी साहब)

द्वादस इंगला पिंगला जाय।
परिमल बास अग्र तहँ पाय।।
(दरिया साहब, बिहारी)

वे जो केवल मोटे और बाहरी विचारों में लगे हुए हैं, तथा मानसिक और बौद्धिक साधन में अनुरक्त हैं, उन्हें सन्त-साधना में लीन किसी योग्य पुरुष से बिना जिज्ञासा किये, उपर्युक्त गूढ़ रहस्य की जानकारी नहीं हो सकती है। बाहरी भाववालों ने तो यहाँ तक किया कि स्पर्श-विषय को इन्द्रियाग्नि में होमने के लिए अपने को गोपी, सखी वा पत्नी भाव में (यहाँ तक कि वेश-भूषा में भी) लाया। यह नहीं कि कबीर साहब आदि सन्तों ने अपने को, सुखी वा पत्नी भाव में अपने भजनों में नहीं वर्णित किया है; परन्तु उनका भाव बहुत उच्च और अत्यन्त पवित्र है। उनके भजनों से जानने में आता है; यथा–

सखिया वा घर सब से न्यारा, जहँ पूरन पुरुष हमारा ।।टेक।।
जहँ नहिं सुख दुख साँच झूठ नहिं, पाप न पुन्न पसारा।
नहिं दिन रैन चन्द नहिं सूरज, बिना ज्योति उजियारा।।
(कबीर साहब)

'हिय नैन सैन सुचैन सुन्दरि साजि श्रुति पिउ पै चली।
गिरि गवन गोह गुहारि मारग चढ़त गढ़ गगना गली।।'

निदिध्यासन में अभ्यास द्वारा चलते-चलते अभ्यासी को अपने अन्दर सारा ब्रह्माण्ड दिखाई देने लगता है और अन्त में उसे स्व-स्वरूप-सहित परमात्म-स्वरूप का भी प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। ज्ञान-यज्ञ यहाँ समाप्त हो जाता है। अभ्यासी जीवन्मुक्त होते हुए

'आली पार पलंग बिछाइ पल पल ललक पिउ सुख पावहीं।
खुस खेल मेल मिलाप पिउ कर पकरि कंठ लगावहीं।।
रस रीति जीति जनाइ आसिक इश्क रस बस ले रही।
पति पुरुष सेज सँवारि सजनी अजब आली सुख का कही।
मुख बैन कहनि न सैन आवै चैन चौज चिन्हावहीं।
आली सन्त अन्त अतन्त जानै बूझि समझि सुनावहीं।।
जिन चीन्हि तन मन सुरत साधी भवन भीतर लख लई।
जिन गाइ शब्द सुनाइ साखी भेद भाषा भिनि भई।।
आली अलख अण्ड न खलक खंडा पलक पट घट-घट कही।
तुलसी तोल बोल अबोल बानी बूझि लखि बिरले लई।।'

(तुलसी साहब)

श्रीमद्भागवत के स्कन्ध १०, अध्याय २९, श्लोक ११ में गोपियों के भाव के लिए यह लिखा है—'उनका (गोपियों का) श्रीकृष्ण के प्रति भगवद्भाव नहीं था, जार-भाव था, परन्तु कहीं सत्य वस्तु भी भाव की अपेक्षा रखती है? उन्होंने जिनका आलिंगन किया, चाहे किसी भी भाव से किया हो, वे स्वयं परमात्मा ही तो थे। इसलिए उन्होंने पाप और पुण्य-रूप कर्म के परिणाम से बने हुए गुणमय शरीर का परित्याग कर दिया। भगवान की लीला में सम्मिलित होने योग्य दिव्य अप्राकृत शरीर प्राप्त कर लिया। इस शरीर में भोगे जानेवाले कर्मबन्धन तो ध्यान के समय ही छिन्न-भिन्न हो चुके थे।

(श्री भागवत सुधासागर, गीता प्रेस, गोरखपुर)

परन्तु कुब्जा के लिए दूसरा ही लिखा है—'भगवान श्रीकृष्ण

विदेह-मुक्त होकर ब्रह्म-निर्वाण को प्राप्त कर जन्म-मरण से छूटकर, दुःखों से सदा के लिए मुक्त हो जाता है। सब पापियों से भी यदि कोई बढ़कर पापी हो, तो भी वह ज्ञान-नौका-द्वारा सब पापों को पार कर जाएगा। ज्ञानाग्नि में सब पाप भस्म हो

सच्चिदानन्दस्वरूप होने पर भी, लोकाचार का अनुकरण करते हुए, तुरन्त उस (कुब्जा) की बहुमूल्य सेज पर जा बैठे। तब कुब्जा...... अपने को खूब सजाकर लीलामयी लजीली मुसकान तथा हाव-भाव के साथ भगवान की ओर देखती हुई उनके पास आई। कुब्जा नवीन मिलन के संकोच से कुछ झिझक रही थी। तब श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण ने उसे अपने पास बुला लिया और उसकी कंकण से सुशोभित कलाई पकड़कर अपने पास बैठा लिया और उसके साथ क्रीड़ा करने लगे.... .... परन्तु उस दुर्भागा ने उन्हें प्राप्त करके भी व्रज-गोपियों की भाँति सेवा न माँगकर यही माँगा—'प्रियतम! आप कुछ दिन यहीं रहकर मेरे साथ क्रीड़ा कीजिये; क्योंकि हे कमलनयन! मुझसे आपका साथ नहीं छोड़ा जाता। .... उन्होंने (श्रीकृष्ण ने) अभीष्ट वर देकर उसकी पूजा स्वीकार की।'

(श्रीभागवत सुधासागर, गीता प्रेस, गो०, स्क. १०, अ० ४८, श्लोक ४-१०तक)

कुब्जा को गोपियों की तरह बुद्धि नहीं हुई, ऐसा क्यों?—समझ में नहीं आता है। फिर जब द्वारिका से, श्रीबलरामजी व्रज में एक बार वहाँ के सब लोगों से मिलने आये थे, तब उनकी क्रीड़ा के बारे में ऐसा लिखा है—'बलरामजी ने गोपियों के साथ वारुणि का पान किया ।।२०।। जैसे गजराज हथनियों के साथ क्रीड़ा करता है, वैसे ही गोपियों के साथ जल-क्रीड़ा करने लगे।।२८।।

(श्री भा० सु०, गीता प्रेस, गोरखपुर, स्क० १०, अ० ६५)

श्रीकृष्ण भगवान की गोपियों और कुब्जा के साथ क्रीड़ा का वर्णन जिनको इच्छा हो, स्वयं श्रीमद्भागवत में पढ़ें। पुनः श्रीबलरामजी की गोपियों के साथ क्रीड़ा का भी वर्णन श्रीमद्भागवत

जाते हैं। संसार में ज्ञान-तुल्य कुछ भी पवित्र नहीं है। ज्ञान की पूर्णता केवल श्रवण और मनन मं नहीं है। इसलिए अपने अन्दर निदिध्यासन करके इसके अन्त में पहुँचकर, अपने अन्दर में ही ज्ञान की पूर्णता प्राप्य है।

पढ़कर जानें। श्रीमद्भागवत में लिखित इन क्रीड़ाओं का पूरा वर्णन लिखना मुझे नहीं सुहाता।

भगवान के आलिंगन के विशेष गुण का प्रभाव गोपियों पर हुआ। उनके पाप और पुण्यरूप कर्म के परिणाम से बने हुए गुणमय शरीर का परित्याग हुआ और उन्होंने भगवान की लीला में सम्मिलित होनेयोग्य अप्राकृत शरीर प्राप्त कर लिया। गोपियों के प्राकृत शरीर से भोगे जानेवाले कर्म-बन्धन तो ध्यान के समय ही छिन्न-भिन्न हो चुके थे। ऐसा श्रीभगवान के आलिंगन का उपर्युक्त विशेष प्रभाव कुब्जा पर नहीं हुआ। तभी तो उनको 'अभागा' श्रीमद्भागवत में लिखा गया है। यदि यह कहा जाय कि गोपियाँ भगवान के प्रति प्रथम जार-भाव के अतिरिक्त और कोई विशेष भाव रखती थीं, जो कुब्जा नहीं रखती थी, तो भागवत में वहीं पर यह लिखा है कि-'कहीं सत्य वस्तु भी भाव की अपेक्षा रखती है? उन्होंने जिनका आलिंगन किया, चाहे किसी भी भाव से किया हो, वे स्वयं परमात्मा ही तो थे।' भगवान के इस प्रभाव से कुब्जा को भी गोपी ही की तरह होना चाहिये था, सो नहीं हुआ। गोपियाँ पुनः श्रीबलरामजी की क्रीड़ा में भी सम्मिलित हुईं। तब भी उनके अप्राकृत शरीर ही रहे होंगे। क्या अप्राकृत शरीर इन्द्रिय-गोचर होता है? अप्राकृत पदार्थ का इन्द्रिय-गोचर होना असम्भव है। श्रीमद्भागवत के ऐसे वर्णनों को पढ़कर मैं आश्चर्य्यित होता हूँ।

इन मोटे और बाहरी भावों से बचे रहकर, सन्तों के बताये आन्तरिक और सूक्ष्म भावों की ही ओर लोगों का लगना उचित है।

यज्ञ से बचे हुए भोजन के विषय में यह और विशेष जानना चाहिये कि अन्तर-साधन-काल में, तत्सम्बन्धी यज्ञ में प्राप्त सुख का

जितेन्द्रिय, श्रद्धावान और ईश्वर-भक्त पुरुष, ज्ञान पाकर तुरन्त परम शान्ति पाता है। अज्ञानी और श्रद्धाहीन होकर जो संशययुक्त रहता है, वह नाश को प्राप्ता होता है अर्थात् कष्टमय जगत में पड़ा रहता है। उसे इस लोक और परलोक में कहीं भी शान्ति-सुख नहीं मिलता है। जो योग-द्वारा ज्ञानी बन कर्म करता

प्रभाव, साधन छोड़कर बाहरी कर्मों में बरतते समय भी रहता है। उसमें (बाह्य कर्म में) पडे रहने में भी उसका भोग होता रहता है। इसके भोगने को 'यज्ञ से बचे हुए का भोजन करना' कहना चाहिये। उक्त प्रकार के अभ्यासी वा याज्ञिक को ही आत्मपरायणता या ब्रह्मपरायणता, समत्व-योग, समत्व-बुद्धि, आत्मा द्वारा आत्मा में सन्तुष्टि, स्थितप्रज्ञता, संयमशीलता, ब्राह्मी स्थिति, विकारशून्यता, कर्म करते हुए कर्मों में अलिप्तता और ज्ञानी भक्त होने का गुण तथा शम-दम आदि गीता में वर्णित मोक्षदायक सब उच्च गुण प्राप्त हों, यही सम्भव है।

इन विषयों को प्रकाशित किये बिना 'गीता-ज्ञान' का सार छिपा रहेगा और सार-रहित 'गीता-ज्ञान' के प्रचार से संसार की हानि होगी।

यज्ञों का वर्णन करते हुए गीता में तप का भी आदेश है। गीता में वर्णित सब याज्ञिकों को तपी और उनके कर्मों को तप कहा जाय तो अनुचित नहीं होगा। इसके अतिरिक्त जो-जो तप जो करना चाहें और जिनसे जो बन सके, सो करें। और

न तपस्तप इत्याहुब्रह्मचर्यं तपोत्तमम्।
ऊर्ध्वरेता भवेद्यस्तु स देवो न तु मानुषः।।

(ज्ञानसंकलिनी तन्त्र)

अर्थ—तप को तप नहीं कहते हैं, ब्रह्मचर्यानुष्ठान ही तपस्या कहकर विशेष प्रसिद्ध किया गया है। जो मनुष्य ऊर्ध्वरेता हैं, वे देव-तुल्य कहे गये हैं।

हुआ अकर्मी बन, संशयरहित हो जाता है, उसको कर्मों का बन्धन नहीं होता है। इसलिए सबको चाहिए कि हृदयस्थ अज्ञान से उत्पन्न संशयों को ज्ञान-तलवार से काट, योग का अवलम्बन ग्रहण करें और संसार के कर्तव्यों का सम्पादन करने के लिए तैयार हों।

वस्तुतः श्रवण और मनन-ज्ञान-सहित योगाभ्यास करते रहकर संसार के कर्तव्यों को निर्लिप्तता से करते रहना उचित है, न कि संसार के कर्तव्यों को छोड़े रहना।

॥ चतुर्थ अध्याय समाप्त ॥

अध्याय ५
अथ कर्मसंन्यासयोग

इस अध्याय में कर्मयोग और संन्यासयोग; दोनों को एक दूसरे का पूरक बताया गया है।

किसी से द्वेष नहीं करनेवाले और इच्छा-विहीन रहनेवाले को संन्यासी कहना चाहिए। सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों से रहित को बन्धन से मुक्त कहना चाहिए। ऐसा पूर्ण संन्यासी होता है।

संन्यासी का भेष लेकर वा घर-गृहस्थी में ही रहकर यदि कोई अध्याय ४ में कहे गए साधनों को करे तो वह साध न में बढ़त-बढ़ता अन्त में पुर्ण संन्यासी होगा। जैसे शरीर में मैल उपजती है, वैसे ही मन में इच्छाएँ (राजसी, तामसी, और सात्त्विकी) स्वाभाविक रूप से उपजती रहती हैं। योगाभ्यास-द्वारा मन-मण्डल को पार किए बिना, कोई इच्छा-विहीन नहीं हो सकता है। मन-मण्डल कहाँ तक है–

मन बुद्धि चित हंकार की, है त्रिकुटी लगि दौड़।
जन दरिया इनके परे, ररंकार की ठौर॥

(मारवाड़ी दरिया साहब)

केवल विचार से इच्छाओं का रोकना क्षणिक होगा, स्थायी नहीं। परन्तु यदि विचार-द्वारा उन्हें रोकने के साथ-साथ ध्यानाभ्यास किया जाय तो सुरत (चेतनात्मा) की ऊर्ध्वगति होगी और वह मन-मण्डल को पार कर जाएगी। तब मनोलय हो जाएगा, जिसके साथ इच्छा का भी लोप हो जाएगा।

समत्व के विषय में लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक महोदय ने अपने 'गीता-रहस्य' के अध्यात्म-प्रकरण में क्या ही

अच्छा कहा है—'संकट के समय भी पूरी समता से बर्ताव करने का अचल स्वभाव हो जावे; परन्तु इसके लिए (सुदैव से हमारे समान चार अक्षरों का कुछ ज्ञान होना ही बस नहीं है) अनेक पीढ़ियों के संस्कारों की, इन्द्रियनिग्रह की, दीर्घोद्योग की तथा ध्यान और उपासना की सहायता अत्यन्त आवश्यक है।' सांख्यनिष्ठा और योगनिष्ठा, दोनों को अज्ञ जन अज्ञान से दो जानते हैं। यथार्थ में दोनों एक ही हैं। एक के बिना दूसरा मोक्षदायक हो नहीं सकता।

'योगहीनं कथं ज्ञानं मोक्षदं भवति ध्रुवम्.........'

(कृपया पृष्ठ ५ की टिप्पणी देखें)

सांख्य में निष्ठावालों के लिए श्रवण, मनन और स्वाध्याय द्वारा परोक्ष अध्यात्मज्ञान की प्राथमिक पूँजी जिस तरह अनिवार्य रूप से अपेक्षित है, ठीक उसी भाँति यह कर्मयोगी के लिए भी है तथा दोनों को पूर्णावस्था तक पहुँचाने के लिए प्राणायाम-सहित ध्यानोपासना-योग वा केवल ध्यानोपासना-योग भी अत्यन्त अपेक्षित है। इसके बिना, दोनों-के-दोनों लँगड़े और अपूर्ण रहेंगे। ये दोनों निष्ठावाले यदि उक्त साधनों की अवहेलना करेंगे और अपने-अपने को सांख्यनिष्ठ और कर्मयोगनिष्ठ घोषित करेंगे, तो दोनों ही केवल डींग ही हाँका करेंगे और यर्थाथता से दूर ही रहेंगे।

वाक्य ज्ञान अत्यन्त निपुन, भव पार न पावइ कोई।
निसि गृह मध्य दीप की बातन्हि, तम निवृत्त नहिं होई॥

(गो० तुलसीदासजी)

और–

तेल तूल पावक पुट भरि धरि, बनै न दिया प्रकासत।
कहत बनाय दीप की बातें, कैसे हो तम नासत॥

(भक्तप्रवर सूरदासजी)

सांख्यज्ञान वा संन्यासयोग में कुछ-न-कुछ कर्मयोग का संग अवश्य रहेगा; क्योंकि स्वल्पातिस्वल्प का भी संग्रह उसको अवश्य रहेगा, जिसमें उसको कर्मयोग के नियम से बरतना पड़ेगा। कर्मयोगी को तो अपने विविध संग्रहों और कर्तव्यों में अपने हृदय को परम त्यागी वा संन्यासी बनाए रखकर ही कर्म करना पड़ेगा। इस भाँति किसी-न-किसी प्रकार कर्मयोग से ही कर्म का त्याग हो सकेगा। कर्म में अकर्मी, कर्मफलत्यागी हो, प्रथम कथित ध्यानोपासना आदि साधन करके समत्व लाभ करेगा। ऐसे मुनि को मोक्ष की प्राप्ति में विलम्ब नहीं होगा। ऐसा योगी तत्त्वज्ञ होता है। वह मन, वचन और शारीरिक कर्मों में निर्लिप्त रहता है। जैसे पानी में कमल निर्लिप्त रहता है, वैसे पाप उसको नहीं छू सकता है। साधनावस्था में उसके सब कर्म, आत्मशुद्धि के लिए होकर, ब्रह्मार्पण हो जाते हैं। वह योगी समतावान और कर्मफल-त्यागी बनकर परम शान्ति पाता है; परन्तु अयोगी बन्धन में पड़ा रहता है। इस तरह योगी पुरुष नौ छिद्रों वा द्वारों (आँखों के दो, कानों के दो, नाक के दो, मुँह का एक, लिंग का एक और गुदा का एक) वाले शरीर-नगर में संयमपूर्वक रहते हुए, कर्मरत रहकर भी अकर्मी बना रहता है। उसका मन कर्मफल में आसक्त नहीं होता है। ऐसा इसलिए कि योग से उसको पूर्ण वा अपरोक्ष आत्म-ज्ञान प्राप्त हो जाता है। इन्द्रिय-सम्बन्धी सुखों से वह ऊपर उठकर ब्रह्म-सुख का भोगी हो जाता है। मन पूर्ण रूप से उसके वश में हो जाता है। तब

इन्द्रिय-सम्बन्धी सुख-दुःख-उत्पादक बाह्य भोगों में उसका मन क्यों लिप्त होगा?

परन्तु वर्णित स्थिति पर आए बिना, केवल बुद्धि-शक्ति के ही प्रयास से मन की यह निर्लिप्त दशा होनी असम्भव है। आत्म-ज्ञान से अज्ञान को पूर्णरूपेण विनष्ट करके उस आत्मतेजोमय सूर्य-ज्ञान से परम तत्त्व परमात्मा का दर्शन होता है अर्थात् आत्मा से ही परमात्मा का दर्शन होना सम्भव है। ऐसे दर्शन करनेवाले का पाप धुल जाता है। वह परमात्म-परायण होकर, उन्हीं में तन्मय रहते हुए और उन्हीं को सर्वस्व-रूप में पाते हुए मुक्त दशा में रहता है। वह संसार, संसार के सब पदार्थों और सब ऊँच-नीच शरीर-धारियों में समदर्शी हो जाता है। मानो वह संसार पर विजय प्राप्त किए हुए होता है। अपने को निष्कलंक ब्रह्ममय बना लेता है; क्योंकि वह ब्रह्म में लीन रहता है। सांसारिक सुख-दुःख से रहित रहता हुआ, बाह्य विषयों में आसक्तिहीन, आन्तरिक आनन्द का भोगी वह ब्रह्मपरायण अक्षय आनन्द को पाता रहता है। काम-क्रोधादि विकारों से रहित होकर अन्तर्ज्योति-प्राप्त वह जीवन्मुक्त योगी पुरुष ब्रह्म-निर्वाण पाता है। चतुर वा बुद्धिमान विषय-जनित भोग को दुःख का कारण और आदि-अन्तवाला जानकर उनमें रत नहीं होता है।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चौर-कर्म से रहित), ब्रह्मचर्य (वीर्य-निग्रह) और अपरिग्रह (आवश्यकता से अधिक का संग्रह वा संचय न करना); ये पाँच यम कहलाते हैं। शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान—ये पाँच नियम कहलाते हैं। यम-नियम का पालन करते हुए बाह्य विषय-भोग में अलिप्त रहकर, दृष्टि को भौंओ के बीच स्थिर रखकर, नाक से आने-जानेवाली प्राण और अपान वायुओं की गति को सम

करके; इन्द्रिय, मन एवं बुद्धि को वश में करके तथा इच्छा, भय और क्रोध से रहित होकर, जो मननशील (मुनि) मोक्ष-साधन में लगा रहता है, वह सदा मुक्त ही है। वह यज्ञ और तप के भोक्ता, सबके हित करनेवाले और सब लोकों के महाप्रभु कृष्ण–परमात्मा को पहचानता हुआ शान्ति प्राप्त करता है।

कतिपय साधक पूरक, कुम्भक तथा रेचन के साधनों से प्राण-अपान वायुओं को सम किया करते हैं; किन्तु यह क्रिया निरापद नहीं है। परन्तु भौंओ के बीच में दृष्टि को स्थिर रखने से अर्थात् दृष्टियोग-साधन से भी, प्राणायाम के उपर्युक्त साधनों को किए बिना ही, कथित दोनों वायुओं के सम होने से प्राणस्पन्दन निरुद्ध होता है।● यह साधन निरापद है। अवश्य ही इसकी ठीक और उत्तम युक्ति जानकर अभ्यास करना चाहिए, नहीं तो आँखें बिगड़ने का इसमें भी डर है। दृष्टि का अर्थ–नजर, निगाह, देखने की शक्ति है, न कि डीम और पुतली। इसके अभ्यास से मन और दृष्टि की एकविन्दुता होती है, चित्तवृति का पूर्ण सिमटाव होता है और इस सिमटाव से, सिमटाव के स्वभावानुकूल मन और चेतन वा सुरत की ऊर्ध्वगति हो जाती है। और ऊर्ध्वगति पर ही समत्व, स्थितप्रज्ञता, सांख्य वा ज्ञाननिष्ठा की पूर्णता वा कर्मयोग की पूर्णता, आत्मदर्शन, आकर्षक वा श्रीकृष्ण परमात्मा का दर्शन और ब्रह्मनिर्वाण; सब-के-सब सम्पूर्णतः अवलम्बित हैं।

॥ पंचम अध्याय समाप्त ॥

●भ्रूमध्यै तारकालोकशान्तावन्तमुपागते।
चेतनैकतने बद्धे प्राणस्पन्दो निरुध्यते॥३३॥
(शाण्डिल्योपनिषद्)

अर्थ–जब चेतन अथवा सुरत भौंओं के बीच के तारक-लोक (तारा-मण्डल) में पहुँचकर स्थिर होती है, तो प्राण की गति बन्द हो जाती है।

अध्याय ६

अथ ध्यानयोग

इस अध्याय का विषय ध्यानयोग है।

प्रथम अध्याय का विषय 'अर्जुन-विषाद-योग' था। द्वितीय अध्याय में विषाद दूर करने के हेतु श्रीभगवान ने सांख्ययोग अर्जुन को सुनाया। आत्मा की अमरता तथा शरीर (अनात्मा) की नश्वरता के ज्ञान को ही सांख्यज्ञान वा अध्यात्मज्ञान श्रीमद्भगवद्गीता के अनुकूल जानना चाहिए।

आत्मज्ञान से जब बुद्धि स्थिर हो जाती है, तब समत्व प्राप्त होता है। समत्व से द्वैत और द्वन्द्व मिटते हैं तथा सब दुःखों को दूर करनेवाला ब्रह्म-निर्वाण प्राप्त होता है। परन्तु बुद्धि की पूर्ण स्थिरता समाधि में होती है (गी० अ० २, श्लोक ५३)। और आत्मज्ञान भी समाधि में ही पूर्ण होता है। जिसकी बुद्धि समाधि में दृढ़ एवं स्थिर हो जाती है, उसे स्थितप्रज्ञ कहते हैं। ऐसी अवस्था में समाधि-साधक को ईश्वर पहचानने की शक्ति प्राप्त हो जाती है। गीता अ० २ के वर्णनानुसार इस साधनविशेष के द्वारा समाधि की सिद्धि का लाभ करना अत्यावश्यक हो जाता है।

सांसारिक कर्तव्यों का अनासक्त भाव से पूर्णरूपेण पालन करते हुए साधन-विशेष द्वारा समाधि की सिद्धि का लाभ हो, श्रीमद्भगवद्गीता इसी को उत्तम बतलाती है। इसीलिए तीसरे, चौथे और पाँचवें अध्यायों में कर्मयोग, ज्ञानकर्मसंन्यासयोग और कर्मसंन्यासयोग का वर्णन करके कथित समाधि के विशेष और सरलतम साधन का वर्णन छठे अध्याय में किया गया है।

समाधि प्राप्ति करने के विशेष साधन को ही ध्यानयोग कहते हैं। इसके लिए कर्मों का त्याग न करके मानस ध्यान में

लगे हुए, कर्मों को करते रहना चाहिए। उनको अहं और फल-आश छोड़कर गृही रहते हुए [अर्थात् गृहस्थी में ही विरक्त (संन्यासी) बन कर्मयोगी होकर] ध्यानयोग का अभ्यास करना चाहिए। इस अध्याय में भगवान श्रीकृष्ण का यही उपदेश है।

योगी बनने के लिए कर्म (कर्मफलों में अनासक्त रहकर कर्म करना तथा एकान्त में केवल ध्यानयोग करने का कर्म करना—ये दोनों ही कर्म हैं) साधन है। और योग में सिद्धि-लाभ होने पर शम अर्थात् मनोनिग्रह, कर्म का साधन बन जाता है। शम की सिद्धि के बिना कर्मों और विषयों में अनासक्त होना असम्भव है। जब यह आसक्ति और सब संकल्प छूट जाते हैं, तब अभ्यासी योगारूढ़ (योग पर चढ़ा हुआ) कहलाता है। यह असाध्य और असम्भव नहीं है। प्रतिदिन के बाह्य कर्तव्यों के लिए जैसे समय बाँट-बाँटकर उनका सम्पादन करना चाहिए, उसी तरह नित्य एकान्त में बैठकर ध्यानयोग का भी अभ्यास करने के लिए अपने समय का भाग होना चाहिए।

मनुष्य अपना उद्धार आप करे। अपनी अधोगति न करे। जिसने अपने मन को जीता है, वह अपना मित्र और जिसने नहीं जीता है, वह अपना शत्रु है। जो मन को जीतकर पूर्ण रूपेण शांत हो गया है, वह ठण्ढ-गर्मी, सुख-दुःख और मानापमान में समान रहता है। इन्द्रियों को जीतनेवाला, ज्ञान और विज्ञान से तृप्त, कूटस्थ अर्थात् मूल (परमात्म-पद) में पहुँचा हुआ, सोने और मिट्टी को तुल्य जाननेवाला और परमात्मा के प्रत्यक्ष ज्ञान से युक्त योगी कहलाता है। जो सुहृद, शत्रु, मित्र आदि सब प्रकार के लोगों में समान भाव रखनेवाला है, वह श्रेष्ठ पुरुष है।

उपर्युक्त योग्यता को प्राप्त करने के लिए चाहिए कि योगाभ्यासी एकान्त में अकेला रहकर विचार-द्वारा अपने मन पर

काबू रखते हुए तथा संग्रहों को त्यागते हुए सदा (नित्य नियत समयों पर) योगाभ्यास करें। 'सदा' (सतत) शब्द से ऐसा समझना कि दूसरा कोई काम न करते हुए, दिन-रात के सम्पूर्ण समय (चौबीसो घण्टे) जीवन-भर योगाभ्यास करें, ऐसा हो सकना असम्भव है। शौचादि नित्य कर्म, भोजन, शयन, जीविकोपार्जन तथा अन्य कर्तव्यों के किए बिना कोई कदापि नहीं रह सकता है। इन कर्मों में जैसे समय बाँट-बाँटकर नित्य लगाना होगा, उसी तरह नितप्रति योगाभ्यास के लिए भी समय नियत रखकर अभ्यास करना होगा।

जो ऐसा कहते हैं–'एकान्त में अकेला रहकर ध्यानाभ्यास में समय लगाने की आवश्यकता नहीं है, बल्कि गीता में बतायी हुई विधियों से मन पर संयम रखते हुए तथा कर्तव्यों का पालन करते हुए केवल कर्मयोग के ही अभ्यास से स्थितप्रज्ञता तथा परम सिद्धि मिल जाएगी।' और यह भी कहते हैं–मेरा उनसे निवेदन है कि उपर्युक्त उक्ति चाहे जिस किसी भी महापुरुष की हो, वे अवश्य ही भूल में हैं। यदि वे समाधि, स्थित-प्रज्ञता तथा सिद्धावस्था के विषय में जानकार हैं, तो अपने किसी विशेष कार्य सम्पादन के हेतु देश में भ्रांतिपूर्ण विचार फैला रहे हैं और देशहितैषी कहलाते हुए भी देश की आध्यात्मिक हानि कर रहे हैं। अन्यथा वे अवश्य ही समाधि, स्थित-प्रज्ञता तथा सिद्धावस्था के विषय के पूर्ण ज्ञाता नहीं है।

भगवान श्रीकृष्ण ने गीता के दूसरे अध्याय में ही कह दिया है–'समाधि में स्थितप्रज्ञता होगी, तब समत्व प्राप्त होगा (श्लोक ५३)।' स्थितप्रज्ञता और समत्व के बिना अन्यान्य विधियों से कर्मयोग में सिद्धिलाभ नहीं हो सकता है। इसलिए इस अध्याय के श्लोक ३ के अनुसार योगी बनने में कर्म (अर्थात्

ध्यानाभ्यास-रूप कर्म और बाह्य कर्तव्यों के विधिवत् सम्पादन का कर्म) उसका साधन और योगी बन चुकने पर (अर्थात् योग की पूरी सिद्धि) अथवा सिद्धावस्था प्राप्त होने पर शम (मन पर पूर्ण अधिकार) कर्म का साधन बन जाता है। और इसकी सिद्धि के हेतु श्लोक १० में एकान्त में अकेला रहकर योगाभ्यास करने को कहा गया है।

स्वयं भगवान श्रीकृष्ण एकान्त में अकेला रहकर योगाभ्यास करते थे।

ब्राह्म मुहूर्त्ते उत्थाय वार्युपस्पुश्य माधवः।
दध्यौ प्रसन्नकरण आत्मानं तमसः परम्॥
(श्रीमद्भागवत, स्कन्ध १०, अध्याय १०, श्लोक ४)

अर्थ–भगवान श्रीकृष्ण प्रतिदिन ब्राह्ममुहूर्त में ही उठ जाते और हाथ-मुँह धोकर अपने मायातीत आत्म-स्वरूप का ध्यान करने लगते। उस समय उनका रोम-रोम आनन्द से खिल उठता था॥४॥

भगवान श्रीकृष्ण गीता-ज्ञान के आदिगुरु हैं। उन्होंने केवल पाण्डव अर्जुन को ही इस ज्ञान की शिक्षा दी थी, सो नहीं, अर्जुन से बहुत पूर्व उन्होंने अपने इस जन्म के पूर्व ही यह शिक्षा पहले-पहल विवस्वान (सूर्य) को दी थी (अध्याय ४, श्लोक १)। अध्याय ३ के २०, २१, २२, २३ और २४ श्लोकों से विदित होता है कि श्रीभगवान कहते हैं–'उत्तम पुरुष के आचरण का अनुकरण लोग करते हैं और उत्तम पुरुष जिसे प्रमाण बनाते हैं, उसका लोग अनुसरण करते हैं।' भगवान श्रीकृष्ण को यद्यपि तीनों लोकों में न कुछ करना था और न उन्हें कुछ भी अप्राप्त ही था, यद्यपि वे उपर्युक्त कारणों से कर्तव्य कर्मों में कुछ भी रुके बिना लगे रहते थे, ताकि लोग उनका

अनुकरण और अनुसरण करें, नहीं तो सारे लोक नष्ट हो जाएँगे और वे स्वयं अव्यवस्था के कर्ता बनेंगे तथा लोकों का नाश करनेवाले होंगे। भगवान श्रीकृष्ण ध्यान-योगाभ्यास नित्य प्रति उपर्युक्त कारण से ही करते थे, नहीं तो उनको स्वयं अपने लिए इसकी कुछ आवश्यकता नहीं थी।

गीता में इसकी विधि भी इस अध्याय में है ही, तब जो इसकी अवहेलना करते हैं और श्रीभगवान के विचार का उल्लंघन करते हैं, चाहे वे कोई भी हों, उनका विचार माननेयोग्य नहीं है। लोकमान्य बालगंगाधर तिलक और महात्मा गाँधी के सदृश सफल घोर कर्मयोगियों को भी एकान्त में ध्यानाभ्यास करना अत्यन्त आवश्यक जान पड़ता था। तिलक महोदयजी अपने 'गीता-रहस्य' में कहते हैं-'परमेश्वर-स्वरूप की इस प्रकार पूरी पहचान हो जावे कि एक ही परब्रह्म सब प्राणियों में व्याप्त है और उसी भाव से संकट के समय भी पूरी समता से बर्त्ताव करने का अचल स्वभाव हो जावे; परन्तु इसके लिए (सदैव से हमारे समान चार अक्षरों का कुछ ज्ञान होना ही बस नहीं है।) अनेक पीढ़ियों के संस्कार की, इन्द्रियनिग्रह की, दीर्घोद्योग की तथा ध्यान और उपासना की सहायता अत्यन्त आवश्यक है (अध्यात्म-प्रकरण, पृ० २४७)।'

महात्मा गाँधी 'अनासक्ति-योग', अध्याय २, श्लोक ६९ की टिप्पणी में कहते हैं-'भोगी मनुष्य रात के बारह-एक बजे तक नाच, रंग, खान-पान आदि में अपना समय बिताते हैं और फिर सबेरे सात-आठ बजे तक सोते हैं। संयमी रात के सात-आठ बजे सोकर मध्य रात्रि में उठकर ईश्वर का ध्यान करते हैं। साथ ही भोगी संसार का प्रपंच बढ़ाता है और ईश्वर को भूलता है। उधर संयमी सांसारिक प्रपंचों से अनजान रहता है और ईश्वर

का साक्षात्कार करता है।' इन उद्धरणों से यही सिद्ध है कि चाहे कोई कैसा भी कर्मयोगी हो, उसको ध्यानाभ्यास नित्य नियमित रूप से सतत, जीवन-भर अवश्य करना चाहिए।

श्रीमद्भगवद्गीता जिस बृहदाकार ग्रंथ 'महाभारत' के भीष्मपर्व का एक बहुत छोटा, परन्तु अत्यन्त तेजस्वी अंश है, उस महाभारत के शान्ति पर्व (पूर्वार्द्ध, मोक्षधर्म), अध्याय ६७ में श्रीव्यासदेवजी का वाक्य है—'तीनों काल (ब्राह्म मुहूर्त, मध्याह्न और सायंकाल) योग का अभ्यास करे। जैसे पात्रों का चाहनेवाला मनुष्य पात्रों की रक्षा करता है, उसी प्रकार एकाग्रता का अभ्यास करनेवाला इन्द्रियों के समूह को हृदय-कमल* में नियत करके सदैव ध्यान करे और योग से चित्त को भयभीत न करे, उसी का सेवन करे और तद्रूप होकर चलायमान न हो, वह सावधान योगी है।'

'इस शान्त-चित्तरूप योग से शूद्र और धर्म जाननेवाली स्त्रियाँ भी परम गति को पाती हैं। परन्तु शान्त-चित्तरूप योग-मार्ग में स्त्री और शूद्र भी अधिकारी है।' इस बात को विद्वान और बुद्धिमान निश्चय ही समझ सकते हैं कि भगवद्गीता और महाभारत के ज्ञान में एक मेल होना चाहिए।

भगवद्गीता के इस अध्याय में ध्यानयोग वा योगाभ्यास करने की जो विधि है, अब सो लिखी जाती है। पवित्र और एकांत स्थान में अपने योग्यतानुसार पवित्र आसनी बिछावे। स्थान न बहुत ऊँचा हो, न बहुत नीचा, समतल हो। वहाँ शरीर, गर्दन तथा मस्तक को सीधा और निश्चल करके बैठे। दिशाओं का

***इसे योगहृदय, कंजाकमल अथवा आज्ञाचक्रान्तर्गत शून्यमण्डल भी कहते हैं।**

'दशेन्द्रिय थाके शून्यते बन्धन'
(बंगला 'योगसंगीत का पद्य')

देखना छोड़कर नासिकाग्र* को देखता हुआ, परमात्म-परायण होता हुआ ब्रह्मचर्य में दृढ़ रहकर, योगी परमात्मदेव का ध्यान करता हुआ बैठे। शरीर, गर्दन और सिर सीधा रखने से मेरुदण्ड सीधा रहेगा। इसके सीधा और स्थिर रहने से श्वास-प्रश्वास की गति धीमी-धीमी होती रहेगी। इस तरह उसकी गति होते रहने के कारण मन की चंचलता कम होगी। यह ध्यानायोग में लाभदायक और सहायक है। परन्तु दृष्टि का लक्ष्य नासाग्र में अवश्य बनाये रखना चाहिए। उपर्युक्त रीति से तनकर बैठने और ध्यानयोग का अभ्यास करने से परमात्मपरायण योगी के मन का चक्र अवश्य बन्द होगा।

जिनको परमात्मदेव में आन्तरिक प्रीति और परायणता नहीं, उन्हें केवल बाहरी और आडम्बरी परायणता हो तथा एकान्त में बैठकर न आप इस अभ्यास में अपना समय लगाना चाहें और न दूसरों को इसमें समय लगाने की सलाह देना चाहें तो वह परमात्मदेव की प्राप्ति, स्थितप्रज्ञता और पूर्ण कर्मयोगी होने की उपर्युक्त बातों को मानकर आप अभ्यास करें और दूसरों को भी इसके लिए सलाह दें, कैसे सम्भव हो सकता है?

***'भ्रुवोर्मध्य' ,'नासाग्र' अथवा 'नासिकाग्र' कहकर ध्यान स्थिर करने के स्थान का संकेत प्राचीन काल से साधक करते चले आ रहे हैं। जैसे—निम्नलिखित कथा में गुप्त धन रखने के स्थान का संकेत है।**

एक सेठ ने अपने गुप्त धन रखने का स्थान अपने बही-खाते में लिखकर रख दिया था कि अमुक महीने की अमुक तिथि के दिन, दोपहर के समय धन अमुक ताड़ गाछ की फुनगी पर रखा है। जब वह मर गया और उसके बेटे ने जब इसे पढ़ा तो अति आश्चर्यित हुआ कि ताड़ वृक्ष तो अभी वर्तमान है, पर वहाँ तो ध न है नहीं! और सोचा कि वहाँ धन रह भी सकता है कैसे?

उनको तो केवल कर्मयोग का ही अभ्यास, ध्यान-योगाभ्यास के बिना ही करना है।

उपर्युक्त ध्यानाभ्यास के बिना स्थितप्रज्ञता और स्थितप्रज्ञता के बिना कर्मयोग में पूर्णता श्रीमद्‌भगवद्‌गीता नहीं बतलाती है। कर्मयोग और ध्यानयोग गीता के अनुकूल करते जाना उत्तम है। न कर्मयोग छोड़ो और न ध्यानयोग। यही श्रेष्ठ विधि परमात्म और मोक्ष-प्राप्ति की तथा संसार के समयानुकूल निज कर्तव्यों के पालन करने की है।

मोक्षार्थी को ध्यान और सेवा-कर्म; दोनों संग-संग अवश्य करना ही पड़ता है; क्योंकि सेवा-कर्म किए बिना संसार में निवास ही नहीं हो सकता है। सेवा-कर्म करने के गीता में बताए हुए ढंग से विचार रख तथा मन पर संयम रखते हुए कर्म-सम्पादन करना उसके लिए नितान्त आवश्यक है।

उसके पिता के समय का एक वृद्ध मुनीम था। जब लड़के ने इस विषय में उससे पूछा, तब उस वृद्ध ने कहा-'वह महीना, तिथि और वह समय आने दो तो मैं बतला दूँगा।' जब वह समय आ गया, तब उस वृद्ध ने उस सेठ के पुत्र को उस स्थान पर ले जाकर ताड़ गाछ की फुनगी की छाया जहाँ पड़ती थी, वह स्थान बता दिया और बोला कि इसी जगह में वह धन गड़ा है। सेठ-पुत्र ने कोड़कर अपना धन निकाल लिया।

इस भाँति भ्रुवोर्मध्य, नासाग्र अथवा नासिकाग्र का यर्थाथ स्थान भेदी गुरुमुख भक्त से, जिसे दूसरों को बतला देने की गुरु-आज्ञा हो, जाना जा सकता है।

नैन नासिका अग्र है, तहाँ ब्रह्म को वास।
अविनाशी विनसै नहीं, हो सहज जोति परकास॥

(श्रीसूरदासजी)

(कल्याण के वेदान्त-अंक, पृष्ठ ५८५ से उद्धृत)

कोई केवल आध्यात्मिक सेवा, कोई केवल आधिभौतिक सेवा और कोई आध्यात्मिक और आधिभौतिक; दोनों सेवाओं का भार अपनी-अपनी योग्यता तथा देश और काल की माँग के अनुसार अपने-अपने योग्यता तथा देश और काल की माँग के अनुसार अपने-अपने ऊपर धारण और उनका सम्पादन करते हुए तथा मोक्ष-धर्म का पालन करते हुए जीवन व्यतीत किए हैं, करते हैं और करेंगे। ये सब-के-सब कर्मयोगी ही माने जाएँगे। इनमें से कोई यदि यह कहे कि 'मैं जो करता हूँ, वही कर्मयोग है, मैं ही कर्मयोगी हूँ और अन्य का न तो कर्मयोग है और न वे कर्मयोगी हैं,' तो उनको यह उक्ति घमण्ड से भरी हुई है, वे आत्म-प्रशंसक हैं और यथार्थतः वे कर्मयोगी हैं ही नहीं। वे कर्मयोगी-से केवल दीखते हैं; किन्तु मुमुक्षु* नहीं हैं और मुमुक्षु के गुणों से हीन को कर्मयोग सिद्ध नहीं होगा।

ऐसे लोग अपनी यह भी अभिलाषा प्रकट करते हैं कि 'सब लोग स्वधारित कर्मों को छोड़कर मेरे ही विचार का अनुसरण करें, तो देश की सामयिक सेवा होगी, नहीं तो देश खतरे में गिरेगा।' उनकी यह अभिलाषा अयोग्य है।

जबतक किसी देश का आध्यात्मिक स्तर उत्तम और ऊँचा नहीं होगा, तबतक उस देश में सदाचारिता ऊँची और उत्तम नहीं होगी। जबतक सदाचारिता ऐसी नहीं रहेगी, तबतक सामाजिक नीति अच्छी और शान्तिदायक नहीं होगी। बुरी सामाजिक नीति के कारण राजनीति शासन-सँभाल के योग्य हो नहीं सकेगी और उस देश में अशान्ति फैली हुई रहेगी।

***कर्मयोग का अभ्यासी मुमुक्षु होता है और कर्मयोग में पारंगत जीवन्मुक्त होता है।**

इन बातों को भूलकर देश में केवल धन और भूमि के बँटवारे का प्रयास देश में शान्ति लाने में असफल ही रहेगा। देश की जनता में धन और भूमि के बँटवारे से पहले ही उनकी आध्यात्मिकता का स्तर उत्तम और ऊँचा उठाने का प्रयास कर उनकी सदाचारिता को ऊँचा उठा, उन्हें सत्य, सन्तोष और अहिंसा का पाठ पढ़ा, उसे धन देकर उनका दारिद्र्य और अभाव दूर करना युक्तिसंगत है। आध्यात्मिकता और सदाचारिता से विहीन तथा सत्य, सन्तोष और अहिंसा से दूर रहनेवालों में केवल धन और भूमि की प्राप्ति शान्ति नहीं ला सकती है। इन सद्‌गुणों से रहितों को कितने धन और ऐश्वर्य से सन्तुष्ट किया जा सकेगा, इसकी माप ही नहीं है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने अपनी 'विनय-पत्रिका' में ठीक ही कहा है—

द्रव्यहीन दुख लहै दुसह अति, सुख सपनेहुँ नहिं पाये।
उभय प्रकार प्रेत पावक ज्यों, धन दुखप्रद श्रुति गाये॥

जनता के दोनों वर्गों (धनी और निर्धन) में आध्यात्मिकता, सदाचारिता, सत्य, सन्तोष और अहिंसा का प्रचार अधिक-से-अधिक करके, उन्हें इन सद्‌गुणों से युक्त किए बिना केवल धन किसी से लेकर किसी को देने से देश में शान्ति विराजती रहे, असम्भव है। अपने देश में अब स्वराज्य है, परन्तु एक को दूसने से धन माँगकर तीसरे को देने की आवश्यकता क्यों जान पड़ी है और वे इसके लिए घोर प्रयास क्यों कर रहे हैं? यदि देश के दोनों वर्ग उपर्युक्त सद्‌गुणों को धारण किए होते, तो उपर्युक्त प्रयासी को कथित प्रयास नहीं करना पड़ता। जनता के दोनों वर्ग आपस में स्वतः एक-दूसरे को सुख पहुँचाकर शान्तिपूर्वक रहते। गोस्वामी तुलसीदासजी के निम्नलिखित सदुपदेशों को पूर्ण विश्वास से मानना चाहिए और कभी नहीं भूलना चाहिए—

बिनु सन्तोष न काम नसाहीं।
काम अछत सुख सपनुहुँ नाहीं॥
राम भजन बिनु मिटहिं कि कामा।
थल विहीन तरु कबहुँ कि जामा॥

श्रीमद्भगवद्गीता के दूसरे अध्याय में योग-समाधि से बुद्धि की स्थिरता, समत्व की प्राप्ति, अपने से अपने में ही संतुष्ट रहकर स्थितप्रज्ञ होने का तथा समत्व को ही योग जानने के अनेक उत्तम-उत्तम सदुपदेश दिए गए हैं। किसी प्रकार धन प्राप्त करके उसके द्वारा समता और सन्तोष प्राप्त होगा, यह उपदेश गीता में नहीं है। गीता के अनुकूल पूर्ण कर्मयोगी महापुरुष को समत्वप्राप्त स्थितप्रज्ञ कहा गया है। स्थितप्रज्ञता समाधि-साधन से मिलेगी। इसी हेतु समाधि-साधन की सरलतम अभ्यास-विधि इस छठे अध्याय में बतलाने की पूर्ण आवश्यकता जानकर बतलायी गई है। इस अभ्यासविधि में नासिकाग्र में दृष्टि रखने को कहा गया है। महात्मा गाँधीजी ने भृकुटी के बीच के भाग को नासिकाग्र कहा है।● लोकमान्य बालगंगाधर तिलकजी ने नाक की नोक को नासिकाग्र कहा है।● शाण्डिल्योपनिषद् अध्याय १ में भी नासिकाग्र* में देखना कहा है; यथा–

'...विद्वान्समग्रीवशिरोनासाग्रदृग्भ्रूमध्ये
शशभृद्बिम्बं पश्यन्नेत्राभ्याममृतं पिबेत्...॥'

और–

●अनासक्तियोग, अध्या ६, श्लोक १३, १४ के नीचे टिप्पणी में तथा गीता-रहस्य, गीता-अध्याय ६, श्लोक १३ देखें।

***इसका सच्चा रहस्य अच्छे अभ्यासी और सच्चे सद्गुरु से जानना चाहिए; यह गुरुगम्य है।**

"'द्वादशांगुलपर्यन्ते नासाग्रे विमलेऽम्बरे।
संविद्दृशि प्रशाम्यन्त्यां प्राणस्पयन्दो निरुध्यते'"॥३२॥

अर्थ–विद्वान गला और सिर को सीधाा करके नासिका के आगे दृष्टि रखते हुए, भौंओं के बीच में चन्द्रमा के बिम्ब को देखते हुए, नेत्रों से अमृत का पान करे। जब ज्ञानदृष्टि (सुरत, चेतनवृत्ति) नासाग्र से बारह अंगुल पर स्वच्छ आकाश में स्थिर हो, तो प्राण का स्पन्दन रुद्ध हो जाता है।* मण्डलब्राह्मणोपनिषद्, ब्राह्मण २ में इसको शाम्भवी मुद्रा (दृष्टियोग) कहा गया है–

तद्दर्शने तिस्त्रो मूर्त्तयः अमा प्रतिपत्पूर्णिमा चेति।
निमीलितदर्शनममादृष्टिः। अर्धोन्मीलितं प्रतिपत्।
सर्वोन्मीलनं पूर्णिमा भवति। " तत्लक्ष्यं नासाग्रम""।
""तदभ्यासान्मनःस्थैर्यम्। ततो वायुस्थैर्यम्।

अर्थ–उसके देखने के लिए तीन दृष्टियाँ होती है; अमावस्या, प्रतिपदा और पूर्णिमा। आँख बन्द कर देखना अमादृष्टि है, आधी आँख खोलकर देखना प्रतिपदा है और पूरी आँख खोलकर देखना पूर्णिमा है। उसका लक्ष्य नासाग्र होना चाहिए। उसके अभ्यास से मन की स्थिरता होती है। इससे वायु स्थिर होता है।

***नासाग्र का पता जाबालोपनिषद् के इस प्रसंग के पढ़ने से लगता है–**

अथ हैनमत्रिः पप्रच्छ याज्ञवल्कयं। य एषोऽनन्तोऽव्यक्त आत्मा सोऽविमुक्ते प्रतिष्ठित इति॥ सोऽविमुक्तः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति। वरणायां नाश्यां च मध्ये प्रतिष्ठित इति॥ का वै वरणा का च नाशीति। सर्वानिन्द्रियकृतान्दोषान्वारयतीति तेन वरणा भवति॥ सर्वानिन्द्रियकृतान्पापान्नाशयतीति तेन नाशी भवतीति। कतमं चास्य स्थानं भवतीति। भ्रुवोर्घ्राणस्य च यः सन्धिः स एष द्योर्लोकस्य परस्य च सन्धिर्भवतीति। एतद्वै सन्धिं सन्ध्यां ब्रह्मविद् उपासत इति॥२॥

कोई-कोई अमादृष्टि से (आँख बन्द कर) अभ्यास करने को मना करते हैं, यह कहकर कि इसमें नींद आ जाती है और कोई इस अभ्यास को यह कहकर तिरस्कृत करते हैं कि 'आँख का मूँदना वक का काम है।' परन्तु मेरा निवेदन यह है कि अमादृष्टि से ध्यानाभ्यास करना विशेष निरापद और सरल है। आँखों को आधी व पूरी खोलकर अभ्यास करने से आँखों में विशेष कष्ट अवश्य ही होगा। इसलिए यह न सरल है और न निरापद ही कहा जा सकता है। फिर भी इनसे जो अभ्यास करना चाहते हैं, वे करें। परन्तु उनको नहीं चाहिए कि अमादृष्टि द्वारा अभ्यास का तिरस्कार करते हुए वे दूसरों को इसके द्वारा अभ्यास करने से मना करें।

भगवान बुद्ध की ध्यानावस्थित प्रतिमाओं के दर्शन से विदित होता है कि वे आँखों को बन्द करके ध्यानाभ्यास करते थे। श्रीमद्भागवत में लिखा है कि राजा परीक्षित ने आँख बन्द किए ध्यानावस्थित शमीक मुनि के गले में मरा हुआ साँप पहनाया था (स्कन्ध १, अ० १८, श्लोक २५-३९)

अर्थ—अत्रि ऋषि ने इसके बाद याज्ञवल्क्य से पूछा—'जो ऐसा अनन्त अव्यक्त आत्मा है, उसको हम कैसे जानें?' याज्ञवल्क्य ने कहा—'वह अविमुक्त आत्मा ही उपासना योग्य है। वह अनन्त अव्यक्त आत्मा अविमुक्त में प्रतिष्ठित है।' वह अविमुक्त कहाँ प्रतिष्ठित है? वह वरणा और नाशी के बीच में प्रतिष्ठित है। वरणा और नाशी क्या है? सब इन्द्रियकृत पापों को नाश करता है, वही नाशी कहलाता है। कहाँ वह स्थान है? दोनों भौंओं का और नासिका का जो मिलन-स्थान है (वहीं वह स्थान है), वह द्युलोक और परलोक का भी मिलन-स्थान है। इस संधिस्थान में ब्रह्मज्ञानी अपनी संध्या की उपासना करते हैं अर्थात् वहाँ पर ध्यान करके ब्रह्म-साक्षात्कार की चेष्टा करते हैं।।२।।

कबीर साहब, गुरु नानक साहब तथा पलटू साहब आदि संतों की वाणियों में आँखें बन्द कर ध्यान करने की विधि लिखी है।

नयनों की करि कोठरी, पुतली पलंग बिछाय।
पलकों की चिक डारिके, पिय को लिया रिझाय।।
आँख कान मुख बन्द कराओ, अनहद झिंगा शब्द सुनाओ।
दोनों तिल एक तार मिलाओ, तब देखो गुलजारा है।।

गुरुदेव के भेद को जीव जानै नहीं,जीव तो अपनी बुद्धि ठाने।
गुरुदेव तो जीव को काढ़ि भव सिंधु तें, फेरि लै सुक्ख के सिधु आनै।
बन्द कर दृष्टि को फेरि अन्दर करै, घट का पाट गुरुदेव खोलै। कहै कबीर तू देख संसार में, गुरुदेव समान कोइ नाहिं तोलै।।

(कबीर साहब)

तीन बन्द लगाय कर, सुन अनहद टंकोर।
नानक सुन्न समाधि में, नहीं साँझ नहिं भोर।।

(गुरु नानक)

आँख मूँदि के ध्यान लावै, द्वार दसवाँ खोलनं।*

(पलटू साहब)

दोउ मूँदि के नैन अन्दर देखा,
नहिं चाँद सुरज दिन राति है रे।

(यारी साहब)

और सूरदासजी कहते हैं–

नैन नासिका अग्र है, तहाँ ब्रह्म को वास।
अविनासी विनसै नहीं, हो सहज जोति परकास।।

(कल्याण–वेदान्त अंक, १९९३ वि० सं०, पृ० ५८५ से उद्धृत)

आँख, कान और मुँह बन्द = तीन बन्द। हठयोग की क्रियाओं में मूल बन्ध, उड्डीयान बन्ध और जालंधर बन्ध–तीन बन्ध हैं, सो ये तीन बन्ध नहीं है।

***पलटू साहब की बानी, भाग १**

कबीर साहब ने सहज समाधि का वर्णन करते हुए एक पद्य में कहा है कि–

आँखि न मूँदौं कान न रूधौं, तनिक कष्ट नहिं धारौं।
खुले नयन पहिचानौं हँसि हँसि, सुन्दर रूप निहारौं।।

यह दशा अवश्य ही सहज समाधि प्राप्त कर लेने पर होगी। परन्तु जबतक सहज समाधि नहीं हुई है, तबतक 'आँखि न मूँदौं, कान न रूधौं' नहीं। साधनारम्भ में तो कबीर साहब के वाक्यों में जैसा वर्णन है, आँख और कान बन्द करने ही पड़ेंगे।

साधन के अन्त में सहज समाधि प्राप्त होगी और आँख-कान बन्द करने की आवश्यकता नहीं रहेगी। परन्तु साधनारम्भ से ही आँख-कान न बन्द करना, कबीर साहब नहीं करते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान श्रीकृष्ण की आज्ञा है–दिशाओं को नहीं देखते हुए नासिकाग्र में देखो। यहाँ विचारणीय है कि दिशाओं को नहीं देखने के लिए आँखों को बन्द करना होगा अथवा उन्हें खोलकर देखना होगा? चारो सीधी ओर, उनके चारो कोने और ऊपर तथा नीचे–ये दस दिशाएँ हैं। आँखों को खोलकर देखने से कोई-न-कोई दिशा अवश्य देखी जाएगी। परन्तु आँखों को बन्द कर और बाहर के ख्यालों को छोड़कर देखने से दिशाओं का देखना छूटेगा।

भृकुटियों के बीच में वा नाक के निचले भाग पर देखने से आँखों में कष्ट तो होगा ही और विशेष बात यह होगी कि भृकुटियों के बीच का वा नाक के निचले नोक-भाग का स्थान प्रत्यक्ष देखा जा सकेगा वा आँख बन्द कर केवल मानसिक दृष्टि से उन स्थानों पर देखने से उन स्थानों के मनोमय रूप देखे जाएँगें। उन स्थानों के जितने-जितने भाग देखे जाएँगे, वे कुछ-न-कुछ परिमाणवाले अवश्य देखे जाएँगे और उन स्थानों पर यदि

इष्टदेव की स्थूल मूर्ति ख्याल में बनाकर देखी जायेगी, तो मूर्ति के विस्तार का परिणाम रहेगा। इस तरह किसी परिमाण में मन और दृष्टि को रखने से समाधि प्राप्त करने की ऊर्ध्वगति नहीं हो सकेगी। इसके लिए पूर्ण सिमटाव चाहिए। यह बिना एकबिन्दुता के नहीं हो सकेगा। विन्दु-ध्यान परम ध्यान है–

तेजो विन्दुः परं ध्यानं विश्वात्महृदि संस्थितम्॥१॥

(तेजोविन्दूपनिषद्)

अर्थ–हृदयस्थित विश्वात्म तेजस्-स्वरूप विन्दु का ध्यान परम ध्यान है॥१॥

श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान के अणु-से-अणु रूप का निर्देश है।

कवि पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्॥

(गीता, अध्याय ८, श्लोक ९)

मनुस्मृति के अध्याय १२, श्लोक १२२ में यही अणोरणीयाम् विन्दु है।

प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि।
रूक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम्॥

अर्थ–जो सबका शासन करनेवाला, अणु से भी अति सूक्ष्म स्वर्ण के समान कान्तिवाला, स्वप्नावस्था के सदृश बुद्धि से जानने योग्य है, उस परम पुरुष को जानें।

परिभाषा के अनुकूल विन्दु का मानव रूप वा कल्पित रूप नहीं बनता है। यह देखने के कौशल से प्रत्यक्ष देखा जाता है। इसी एकविन्दुता वा विन्दुध्यान के लिए श्रीमद्भागवत के स्कन्ध ११, अध्याय १४ के नीचे लिखे श्लोकों में क्रम-क्रम से

द्रष्टव्य–रेखांकित वाणी में विन्दु-ध्यान का संकेत है।

शून्य-ध्यान का वर्णन है।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यो मनसाऽकृष्य तन्मनः।
बुद्ध्या सारथिना धीरः प्रणयेन्मयि सर्वतः॥४२॥
तत्सर्वव्यापकं चित्तमाकृष्यैकत्र धारयेत्।
नान्यानि चिन्तयेद् भूयः सुस्मितं भावयेन्मुखम्॥४३॥
तत्र लब्धपदं चित्तमाकृष्य व्योम्नि धारयेत्।
तच्च त्यक्त्वा मदारोहो न किञ्चदपि चिन्तयेत्॥४४॥

अर्थ—बुद्धिमान पुरुष को चाहिए कि मन के द्वारा इन्द्रियों को उनके विषयों से खींचकर, उस मन को बुद्धिरूपी सारथी की सहायता से सर्वांगयुक्त मुझमें ही लगा दे॥४२॥ सब ओर से फैले हुए चित्त को खींचकर एक स्थान में स्थिर करे और अन्य अंगों का चिन्तन न करता हुआ केवल मेरे मुस्कान-युक्त मुख का ही ध्यान करे॥४३॥ मुखारविन्द में चित्त के स्थिर हो जाने पर उसे वहाँ से हटाकर आकाश में स्थिर करे। तदन्तर उसको भी त्यागकर मेरे शुद्ध स्वरूप में आरूढ़ हो और कुछ भी चिन्तन न करे॥४४॥

इस ध्यानाभ्यास के बारे में उपनिषद् एवं सन्तवाणियों के ये कतिपय पद्य हैं—

बीजाक्षरं परं विन्दु नादं तस्योपरि स्थितम्।
सशब्दं चाक्षरे क्षीणे निःशब्दं परमं पदम्॥२॥

अर्थ—परम विन्दु ही बीजाक्षर है, उसके ऊपर नाद है। नाद जब अक्षर (अनाशी ब्रह्म) में लय हो जाता है, तो निःशब्द परम पद है। (ध्यानविन्दूपनिषद्, श्लोक २)

शून्य ध्यान सबके मन माना।
गगन की ओट निशाना है।

द्रष्टव्य—रेखांकित वाणी में विन्दु-ध्यान का संकेत है।

दहिने सूर चन्द्रमा बायें, तिनके बीच छिपाना है।
गगन मण्डल के बीच में, तहवाँ झलके नूर।
जो कोइ निर्गुण दर्शन पावै।
प्रथमे सुरति जमावै तिल पर, मूल मंत्र गहि लावै॥
मेरे नजर में मोती आया है।
है तिल के तिल के तिल भीतर, बिरले साधू पाया है॥

(कबीर साहब)

गगनंतरि गगन गवनि करि फिरै।
जाय त्रिवेणी मजनु करै॥
गगनि निवासि आसणु जिसु होई।
नानक कहे उदासी सोई॥
भ्रम भै मोह न माइआ जाल।
सुन्न समाधि प्रभू किरपाल॥

(ग्रन्थ साहब, गुरु नानक)

चढ़ै गगन आकास गरजे द्वार दसम निकासनं।
विन्दु में तहँ नाद बोलै रैन दिवस सुहावनं॥

(पलटू साहब)

स्त्रुति ठहरानी रहे अकासा।
तिल खिरकी में निसदिन वासा॥

(तुलसी साहब)

नासाग्र और विन्दु वा अणोरणीयाम् के विषय में उक्त बातों की जानकारी के बाद समाधि के विषय में भी जानकारी होनी चाहिए। श्रीमद्भगवद्गीता के ज्ञान का सार विषय, कर्मयोग-द्वारा परमात्म-प्राप्ति और मोक्ष-लाभ करना है। अनेक जानकार ऐसा बतलाते हैं ओर भगवद्गीता का कहना है कि

द्रष्टव्य–रेखांकित वाणी में विन्दु-ध्यान का संकेत है।

कर्मयोगी को स्थितप्रज्ञ होना चाहिए और स्थितप्रज्ञता समाधि में प्राप्त होती है। अतएव यह अवश्य ही जानना चाहिए कि समाधि किसे कहते है? योगाभ्यास* के अन्तिम अंग को समाधि कहते हैं। इसमें पूर्ण सफल होने पर अभ्यासी पूर्ण योगी होता है। मुक्तिकोपनिषद् में समाधि की निम्नलिखित स्थितियाँ बतलायी गई हैं–

ब्रह्माकारमनोवृत्तिप्रवाहोऽहंकृतिं विना।
संप्रज्ञातसमाधिः स्याद्ध्यानाभ्यासप्रकर्षतः॥५३॥
प्रशान्तवृत्तिकं चित्तं परमानन्ददायकम्।
असंप्रज्ञातनामायं समाधिर्योगिनां प्रियः॥५४॥
प्रभाशून्यं मनःशून्यं बुद्धिशून्यं चिदात्मकम्।
अतद्व्यावृत्तिरूपोऽसौ समाधिर्मुनि भावितः॥५५॥
ऊर्ध्वपूर्णमधः पूर्णं मध्यपूर्णं शिवात्मक्।
साक्षाद्विधिमुखो ह्येष समाधिः पारमार्थिकः॥५६॥

अर्थ–जब अहंकारवृत्ति निरुद्ध होकर केवल ब्रह्माकार में चित्त की वृत्ति होकर रहती है, तब इसको संप्रज्ञात समाधि कहते हैं। यह अतिशय ध्यानाभ्यास से होती है॥५३॥
जब चित्त की सब वृत्तियाँ प्रशान्त हो जाएँगी, उसी अवस्था का नाम असंप्रज्ञात समाधि है। वह योगियों को प्रिय है॥५४॥ ज्योति, मन तथा बुद्धि-रहित होकर केवल चैतन्य आत्मा ही रहे, यह अतद्व्यावृत्ति (जिसको किसी दूसरे की आवश्यकता न हो) समाधिस्थ मुनियों से अभिलषित है॥५५॥ (इस समाधि में) ऊपर, नीचे और मध्य; सर्वत्र कल्याणकारी ब्रह्म की परिपूर्णता

***इसके आठ अंग हैं–(१) यम, (२) नियम, (३) आसन, (४) प्राणायाम, (५) प्रत्याहार, (६) धारणा, (७) ध्यान और (८) समाधि।**

की अनुभूति होती है। विधिमुख (कथित) यह पारमार्थिक समाधि है।।५६।।

समाधि की इन स्थितियों में बाह्य ज्ञानविहीन होकर रहना होता है। नादविन्दूपनिषद् में भी कहा है–

शंखदुन्दुभिनादं च न शृणोति कदाचन।
काष्ठवज्ज्ञायते देह उन्मन्यावस्था ध्रुवम्।।५२।।
न जानाति स शीतोष्णं न दुःखं न सुखं तथा।
न मानं नावमानं च संत्यक्त्वा तु समाधिना।।५३।।
अवस्थात्रयमन्वेति न चित्तं योगिनः सदा।
जाग्रन्निद्राविनिर्मुक्तः स्वरूपावस्थितामियात्।।५४।।

अर्थ–इसके पश्चात् किसी समय भी शंख या दुन्दुभि के नाद को वह (अभ्यासी) नहीं सुनता है। निश्चय ही उन्मुनी अवस्था को पाकर उसकी देह काष्ठवत् हो जाती है।।५२।। ठण्ढ, गर्मी और सुख-दुःख को वह कुछ नहीं जानता है। योगी का चित्त सदा मान और अपमान को त्यागकर समाधि से तीनों अवस्थाओं को पार करता है। जाग्रत और निद्रावस्था से छूटकर वह आत्मस्वरूप को प्राप्त कर लेता है।।५३-५४।।

समाधि-साधन में जब इन दशाओं को कोई प्राप्त करेगा, तभी वह समाधि-प्राप्त महापुरुष कहलाने का अधिकारी होगा। ऐसे समाधिस्थ महापुरुष स्थितप्रज्ञ होकर पूर्ण कर्मयोगी होंगे, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। समाधि प्राप्त करने के लिए ध्यानयोग का और पूर्ण कर्मयोगी होने के लिए कर्मयोग का अभ्यास संग-संग आरम्भ कर, करते रहना युक्तियुक्त है। अभ्यासी ध्यानयोग में पूर्ण होकर कर्मयोग में भी पूर्ण हो जाएगा। समाधि-रहित को स्थितप्रज्ञता कदापि प्राप्त नहीं होगी और इसके बिना कर्मयोगी कच्चा और अपूर्ण रहेगा।

कोई-कोई कर्म-समाधि मानते हैं। उनका कहना है कि 'बाह्य कर्तव्यों को पूर्णरूपेण मन लगा-लगाकर करते रहो, इसमें ऐसी तन्मयता आवे कि कर्तव्य कर्म करते समय मन दूसरी ओर तनिक न जाएँ। ऐसी कर्म-समाधि में जाग्रतावस्था नहीं छूटेगीं । ऊपर लिखित समाधियों में तुरीय और तुरीयातीतावस्था में रहकर अभ्यासी बाह्य ज्ञान से शून्य होगा। और नाना प्रकार के कर्तव्यकर्मों को करते हुए मन और बुद्धि एक-ही-एक पर अधिक विलम्ब-पर्यन्त नहीं ठहराए जा सकेंगे। इस भाँति एक तत्त्व का दृढ़ाभ्यास नहीं होगा और एक तत्त्व के दृढ़ाभ्यास के बिना भोगवासना का क्षय नहीं होगा। भोगवासना के क्षय नहीं होने से समाधि की प्राप्ति कदापि नहीं होगी।

एकतत्त्वदृढ़भ्यासाद्यावन्न विजितं मनः।।४०।।
प्रक्षीणचित्तदर्पस्य निगृहीतेन्द्रियद्विषः।
पद्मिन्य इव हेमन्ते क्षीयन्ते भोगवासनाः।।४१।।

(मुक्तिकोपनिषद्)

अर्थ—जबतक मन नहीं जीता गया हो, एक तत्त्व के दृढ़ अभ्यास के चित्त-अहंकार को पूर्ण रूप से नष्ट करके इन्द्रिय-शत्रु को निग्रह करना। ऐसा होने से ही हेमन्त काल के कमल-सदृश भोग-वासना का नाश हो जाएगा।

अतएव कर्म-समाधि को असली समाधि नहीं मान सकते, जिसमें गीता की स्थितप्रज्ञता प्राप्त हो। वर्णित कर्म-समाधि के माननेवाले, अपने कर्म-समाधि के साधन को 'विकर्म' (विशेष कर्म) भी कहते हैं। परन्तु उनके केवल इस विकर्म-साधन से ही असली समाधि की प्राप्ति नहीं हो सकती है; और न कर्म-बन्धन से ही छूटा जा सकता है। कर्म-बन्धन तो असली समाधि में ही नष्ट हो सकता है। इसलिए उनके इस विकर्म-साध

न से 'अकर्म' होना, माननेयोग्य नहीं है। (अध्याय ४ में विकर्म के विषय में लिखा जा चुका है, अतएव उस विषय में यहाँ और लिखने की आवश्यकता नहीं है।) कच्चे कर्मयोगी को परमात्म-दर्शन और मोक्ष-लाभ नहीं होंगे। जब ये ही नहीं मिले तो ऐसे कर्मयोग के लिए यह कह देना अनुचित नहीं होगा कि–

जोग कुजोग ज्ञान अज्ञानू। जहँ नहिं राम प्रेम परधानू।।

(गो० तुलसीदास)

जिसको परमात्म-स्वरूप के प्रत्यक्ष दर्शन समाधि में प्राप्त करने का प्रेम नहीं है, उसको राम (परमात्म) में प्रेम है, यह कैसे कहा जाएगा? केवल 'मनोमय कुछ' को परमात्म-दर्शन जानना भूल है। यहाँ पाठकों को पुनः स्मरण करा देता हूँ कि स्थितप्रज्ञता में समत्वबुद्धि होती है और इसके लिए लोकमान्य बालगंगाधर तिलकजी ने ध्यान और उपासना को अत्यन्त आवश्यक बतलाया है। (गीता-रहस्य, पृष्ठ २४७)

ध्यान का तात्पर्य यदि केवल मूर्त्त मानसरूप में मन को लगाना है, तो ऐसी जानकारी अपूर्ण है। पहले शून्यध्यान और बिन्दुध्यान के विषय में लिखा जा चुका है। इसके विशेष बोध के लिए कुछ और लिखा जाता है।

न ध्यानं ध्यानमित्याहुर्ध्यानं शून्यगतं मनः।
तस्य ध्यानप्रसादेन सौख्यं मोक्षं न संशयः।।

(ज्ञानसंकलिनी तंत्र)

अर्थ–ध्यान को ध्यान नहीं कहते हैं, शून्यगत मन को ही ध्यान कहते हैं। उसी ध्यान की प्रीति के द्वारा ही सुख और मोक्ष लाभ होते हैं, इसमे सन्देह नहीं।

तुलसीकृत रामायण उत्तराकाण्ड में कागभुशुण्डि के भजन-अभ्यास के विषय में लिखा है कि–

पीपर तरु तर ध्यान सो धरई।
जाप यज्ञ पाकरि तर करई॥
आम छाँह कर मानस पूजा।
तजि हरि भजन काज नहिं दूजा॥

मानस-पूजा और ध्यान को अलग-अलग कहा गया है। मूर्त्त मानस-रूप में मन लगाना मानस-पूजा है, इसमें किसी को भी सन्देह नहीं है। यह भी एक प्रकार का ध्यान ही है, परन्तु जब कागभुशुण्डि का ध्यान करना इससे पृथक् कहा गया है, तब इसके अतिरिक्त किसी और प्रकार का ध्यानाभ्यास अवश्य होना चाहिए। श्रीमद्भागवत का शून्य में ध्यान करना अवश्य ही इस मानस-पूजा-ध्यान से पृथक् है। इसी में मन शून्यगत होता है और यह विन्दु-ध्यान भी कहलाता है। इसके विषय में प्रथम लिखा जा चुका है। परिमाणशून्य और नहीं विभाजित होनेवाले चिह्न को विन्दु कहते हैं। इसीलिए शून्य-ध्यान और विन्दु-ध्यान एक ही बात है।

आत्मज्ञान, परमात्म-भक्ति, स्थितप्रज्ञता, समाधि, समत्वयोग, कर्मयोग और ध्यानयोग श्रीमद्भगवद्गीता-ज्ञान के सार हैं। इसीलिए इन विषयों को समझाने के निमित्त, इस पुस्तक में इनका कुछ विशेष शब्दों में स्थान-स्थान पर वर्णन किया गया है तथा उचित स्थानों पर यथोचित वर्णन किया जायेगा। भगवान श्रीकृष्ण ने पाण्डव अर्जुन को ध्यानयोग की विधि बतलाकर निम्नलिखित बातें और कहीं।

ध्यानाभ्यास करके जो अपने को नियम में कर लेगा, वह अपने को परमात्मा में जोड़कर उनमें विराजनेवाली शान्ति प्राप्त करेगा। जो बहुत खाता है अथवा उपवासी रहता है; बहुत सोता है या अति अल्प सोता है, उसकी योग की सिद्धि नहीं

होती है। बल्कि जिसका भोजन, शयन और जागरण तथा अन्यान्य कर्म; सब उचित परिमाण में नपे-तुले होते हैं, यह योग उसका दुःख-भंजन होता है। कामनाओं में सदा निःस्पृह रहता हुआ ध्यान-योगी का मन, निर्वातस्थान में दीप-शिखा-सदृश स्थिर होता हुआ आत्मा में लगा रहता है। यह योग बिना उकताये हुए साधने-योग्य है।

चंचल मन साधन छोड़कर जिधर-जिधर भागे, उधर-उधर से उसको लौटा-लौटाकर साधना में अनवरत रूप से लगाने का प्रत्याहार करना चाहिए। इस भाँति मन शान्त और वश में होगा। अभ्यासी को अनन्त ब्रह्म-सुख तथा समत्व की प्राप्ति होगी। वह अपने में सबको, सबमें अपने को, ईश्वर को सबमें और ईश्वर में सबको आत्मदृष्टि से प्रत्यक्ष (न कि केवल बौद्धिक रूप में) देखेगा। परमात्मा के दर्शन उसको सदा मिलते रहेंगे और परमात्मा को तो कभी कुछ भी अदृश्य नहीं रहता है, वह कभी भी कैसे उसको अदृश्य रहेगा? वह समत्व-प्राप्त भक्त-योगी अपने जैसा सबको देखता हुआ, कर्तव्य कर्मों में बरतता हुआ, परमात्मा की प्रत्यक्षता में ही रहा करता है।

***ध्यानयोग में पारंगत से ही ऐसा होगा। केवल किसी के कहने पर कि 'सबमें ईश्वर को देखो,' कोई सबमें ईश्वर का दर्शन नहीं पा सकता है।**

कैवल्य दशा की आत्मदृष्टि।

श्रीमद्भगवद्गीता के कथनानुसार तो अनेक जन्मों तक ध्यानयोग करके सिद्धि मिलेगी, परन्तु जो अपने को गीता का विशेष जानकार और उसके द्वारा पुष्ट हुआ मानें, वह यदि केवल कुछ वर्षों तक ध्यान करके यह सिद्धान्त अपनी ओर से कह दें कि अब ध्यान-योग करने का समय नहीं है, तो उनकी यह बात विश्वास करने-योग्य नहीं है। अनेक जन्मों के अभ्यास के समक्ष केवल कुछ

यद्यपि मन की अत्यन्त चंचलता और इसके दुःसाध्य होने के कारण इसको वश में करना बड़ा कठिन है, तथापि अभ्यास (ध्यान) और वैराग्य से इसको वश में किया जाता है। यदि ध्यान-योग में श्रद्धा रखे; परन्तु साधन में ढीला रहे, तो यह योग-भ्रष्ट पुरुष अपने स्वल्पातिस्वल्प ध्यान-योगाभ्यास के फल से दुर्गति को प्राप्त न होकर प्रथम स्वर्ग-सुख भोगेगा; पुनः इस पृथ्वी पर किसी पवित्र श्रीमान के घर में अथवा किसी ज्ञानवान योगी के घर में जन्म लेगा और पूर्व के अभ्यास-संस्कार से प्रेरित होकर, ध्यान-योगाभ्यास में लग जायेगा। वह मोक्ष की ओर आगे बढ़ेगा और इस प्रकार अनेक जन्मों की कमाई के द्वारा पापों से छुटकर पवित्र होता हुआ परम गति (मोक्ष) को प्राप्त करेगा।

ज्ञानवान योगी के कुल में जन्म पाने को दुर्लभ कहा गया है। इसका हेतु यह ज्ञात होता है कि पवित्र श्रीमान के कुल में बारम्बार जन्म पाकर पूर्व संस्कार-द्वारा ध्यान-योगाभ्यास में जब वह अभ्यासी अधिकाधिक संलग्न होगा और विशेष अभ्यास से उसे सिद्धि मिलेगी, तब वह ज्ञानवान योगी-कुल में जन्म लेने का पात्र होगा। और उसमें जन्म लेकर ध्यान-योगाभ्यास में

वर्षों का ही अभ्यास तो अत्यन्त स्वल्पाभ्यास है। इतने ही में अपने उक्त सिद्धान्त का प्रसार करना बड़ा ही अयोग्य है। अनेक जन्म ध्यानाभ्यास करके सिद्धि पाकर, वह यह नहीं कहेंगे कि अब ध्यानाभ्यास का समय नहीं है; क्योंकि गीता यह नहीं बताती है कि ध्यानाभ्यास करने का समय कभी नहीं रहेगा।

जबतक योगाभ्यास में कोई पूर्ण नहीं होता है, तबतक वह योग का जिज्ञासु ही है।

अक्षरं परमो नादः शब्दब्रह्मेति कथ्यते ....॥२॥

(योगशिखोपनिषद्, अ० ३)

अर्थ—अक्षर (अनाशी) परम नाद को शब्दब्रह्म कहते हैं॥२॥

पारंगत हो, परम मोक्ष को प्राप्त करेगा। इस योगाभ्यास का स्वल्प अभ्यास भी जीव को भव के महाभय से बचाता है और इसकी ऐसी महिमा है कि इसका जिज्ञासु भी शब्दब्रह्म अर्थात् नाद-ब्रह्म को पार कर जाता है। यह नाद-ब्रह्म सृष्टि का बीज है। सृष्टि के आदि में परमात्मा से सर्वप्रथम इसी का आविर्भाव होता है। इसलिए इसको आदिनाद, आदिनाम और आदिशब्द कहा जाता है। इसको पार कर जाने से ही भवसागर से मुक्ति होती है।

ध्यानयोग में नादानुसंधान परम और अन्त का साधन है। इसके समाप्त हुए बिना योग समाप्त ही नही होगा। शून्यध्यान वा विन्दुध्यान-द्वारा नादानुसन्धान (सुरत-शब्दयोग) का अभ्यास ग्रहण होगा।

विन्दुपीठं विनिर्भिद्य नादलिंगमुपस्थितम् ''''''''॥१३॥

(योगशिखोपनिषद्, अ० २)

अर्थ—विन्दुपीठ का भेदन करके नादलिंग उपस्थित होता है।

बीजाक्षरं परं विन्दुं नादं तस्योपरि स्थितम्।
सशब्दं चाक्षरे क्षीणे निःशब्दं परमं पदम्॥२॥

(ध्यानविन्दुपनिषद्)

अर्थ—परम विन्दु ही बीजाक्षर है। उसके ऊपर नाद है। नाद जब अक्षर (अनाशी) ब्रह्म में लय हो जाता है, तो निःशब्द परम पद है।

लोगों ने 'शब्द-ब्रह्म' का अर्थ वेद बतलाकर, 'जिज्ञासुरपि योगस्य शब्द-ब्रह्मातिं वर्तते' का अर्थ (योग का जिज्ञासु भी सकाम वैदिक कर्म करनेवाले की स्थिति पार कर जाता है।') भी किया है। मैंने 'शब्द-ब्रह्म' को जैसा समझा है, उस अर्थ में वैदिक कर्मकाण्डात्मक स्थिति को अवश्य ही अभ्यासी वा जिज्ञासु पार कर जाएगा।

वैदिक काल से लेकर आधुनिक काल तक के कतिपय सन्तों के शब्द इस पुस्तक में संगृहीत हैं और चौथे भाग में यह बताया गया है कि इन वाणियों के अनुसार सन्तमत क्या है?

इसका विशेष विवरण 'सत्संग-योग' के चारो भागों में लिखा गया है। यहाँ नमूने के लिए 'वराहोपनिषद्', अध्याय २ का एक मन्त्र दिया जाता है।

सर्वचिन्तां परित्यज्य सावधानेन चेतसा।
नाद एवानुसन्धेयो योगसाम्राज्यमिच्छता॥८३॥

अर्थ—योग-साम्राज्य की इच्छा करनेवाले मनुष्यों को सब चिन्ता त्यागकर सावधान होकर नाद की ही खोज करनी चाहिए।

ध्यानयोग का सार-साधन नादानुसन्धान है, जो साधन के अन्त तक पहुँचाता है।

तपस्वी से, ज्ञानी (वाचस ज्ञानी वा ध्यानयोग-अभ्यास में पूर्णताविहीन ज्ञानी) से और कर्मकाण्डी से योगी अधिक है। और योगियों में भी परमात्म-भक्त योगी श्रेष्ठ है। इसलिए हे लोगो! भक्तयोगी बनो।

॥ षष्ठ अध्याय समाप्त ॥

अध्याय ७
अथ ज्ञान-विज्ञानयोग

इस अध्याय का विषय ध्यानयोग है।

इसमें भगवान परमात्मा के नित्य, अविनाशी और मायातीत स्वरूप का वर्णन है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार; ये आठ उनकी अपरा (निम्नकोटि की) प्रकृति* है। इससे ऊँची, जगत को धारण करनेवाली उनकी परा प्रकृति* है, जो जीव-रूप है अर्थात् चेतन है। परमात्मा भगवान की इन्हीं दोनों प्रकृतियों से सब प्राणी उत्पन्न होते हैं। सब सृष्टि की उत्पत्ति और लय के कारण परमात्मा हैं और सारी रचना उनमें गुँथी हुई है। जल में रस; सूर्य, चन्द्र और अग्नि में तेज, वेदों में ॐकार, आकाश में शब्द, पुरुषों में पराक्रम, पृथ्वी में गन्ध, प्राणी-मात्र का जीवन, तपस्वी का तप, बुद्धिमान की बुद्धि, तेजस्वी का तेज, बलवान का काम-रागरहित बल और प्राणियों में धर्म का अविरोधी काम परमात्मा हैं। सात्विक, राजस और तामस, जो सब भाव हैं, सब परमात्मा से उपजे हुए हैं। परमात्मा में वे सब हैं, परन्तु परमात्मा उनमें नहीं हैं। इसका

***ये दोनों प्रकृतियाँ परमात्मा के स्वभाव या गुण नहीं हैं, परमात्मा के अधीन में हैं; जैसे किसी के अधीनस्थ चीज उसकी है, परन्तु वह उसका स्वभाव नहीं है। लोकमान्य बालगंगाधर तिलकजी को भी यह मान्य है कि प्रकृति स्वतन्त्र नहीं है, परमात्मा के अधीनस्थ है; यथा—'श्रीमद्‌भगवदगीता में भी भगवान ने पहले यह वर्णन करके कि प्रकृति स्वतन्त्र नहीं है—मेरी ही माया है।' (गीता, अध्याय ७, श्लोक १४) फिर आगे कहा है—'प्रकृति अर्थात् माया और पुरुष, दोनों अनादि हैं।' (१३/१९)**

(गीता-रहस्य, पृष्ठ २६३)

तात्पर्य यह है कि परमात्मा उन भावों के अवलम्ब से नहीं रहते हैं। उन भावों से वे निर्लिप्त रहते हैं; परन्तु वे भाव उनके आधार पर रहते हैं। सांसारिक लोग त्रैगुणी से उच्च और अविनाशी परमात्मा को नहीं पहचानते हैं। परमात्मा की सत, रज और तमवाली त्रैगुणी माया को तरना कठिन है। परन्तु जो परमात्मा की शरण लेते हैं, वे आसुरी भाववाले मूढ़, अधम और दुराचारी हैं। माया उनके ज्ञान को हर लेती है।

भक्त चार प्रकार के होते हैं–ज्ञानी, जिक्षासु, आत्त और अर्थार्थी। ये सदाचारी होते हैं। इनमें ज्ञानी भक्त श्रेष्ठ हैं, जो परमात्मा को प्रिय हैं। ये सब भक्त अच्छे हैं, परन्तु ज्ञानी तो परमात्मा की आत्मा ही हैं; क्योंकि वह योगी ज्ञानी भक्त जानता है कि परमात्मा-प्राप्ति से ऊँची गति दूसरी नहीं है। बहुत जन्मों के अन्त में वह ज्ञानी भक्त परमात्मा को पाता है। सब वासुदेव*मय है–ऐसा ज्ञानी महात्मा बड़ा दुर्लभ है। अनेक कामनाओं से हरी गई बुद्धिवाले, परमात्मा से भिन्न अनेक देवों की शरण जाते हैं। उन स्वल्प बुद्धिवालों को नाशवान फल मिलता है। देव और भूत आदि, जिनको जो भजते हैं, वे उनके पास जाते हैं और परमात्मा के भजनेवाले परमात्मा को ही पाकर अनाशी शान्तिमय सुखफल को सदा के लिए प्राप्त करते हैं। परमात्मदेव का परम स्वरूप इन्द्रियों से नहीं जाननेयोग्य, अनुपम और अविनाशी है। बुद्धिहीन लोग उनको इन्द्रियगम्य मानते हैं। अपनी योगमाया से ढँके हुए परमात्मदेव सबके लिए प्रगट नहीं हैं। मूढ़ सांसारिक लोग उन अजन्मा (जिनका जन्म न हो) और अविनाशी को भली भाँति

***महाभारत, उद्योगपर्व, अ० ७०, श्लोक ३ का अर्थ–बसें सब भूतप्राणी जिसमें, उसे वासु कहते व वासु हो जो देव, उनको वासुदेव कहते हैं व व्यापक होने से विष्णु नाम कहाया।**

नहीं पहचानते। इस ज्ञान-विज्ञान अध्याय के अन्त में यह लिख देना उचित जँचता है कि सबमें परमात्मा हैं, यह ज्ञान है और सब परमात्ममय है (जैसे जेवर धातुमय है), यह विज्ञान है।

'मयि', 'मत्तः' 'अहम् अस्मि', 'माम्' और 'मम' (मुझमें, मुझसे, मैं हूँ, मुझे और मेरा) आदि शब्दों से श्रीभगवान ने अपने को ज्ञात कराया है और उन्होंने अपने को अज, अविनाशी, इन्द्रियातीत बतलाया है। श्रीमद्भागवत, स्कन्ध १० अध्याय २ में ये श्लोक हैं—

भगवानपि विश्वात्मा भक्तानामभयंकरः।
आविवेशांशभागेन मन आनकदुन्दुभेः॥१६॥
स बिभ्रत पौरुषं धाम भ्राजमानो यथा रविः।
दुरासदोऽतिदुर्धर्षो भूतानां सम्बभूव ह॥१७॥
ततो जगन्मंगलमच्युतांश समाहितं शूरसुतेन देवी।
दधार सर्वात्मकमात्मभूतं काष्ठा यथाऽऽनन्दकरं मनस्तः॥१८॥
सा देवकी सर्वजगन्निवासनिवासभूता नितरां न रेजे।
भोजेन्द्रगेहेऽग्निशिखेव रुद्धा सरस्वती ज्ञानखले यथा सती॥१९॥

और—

निशीथे तमउद्भूते जायमाने जनार्दने।
देवक्यां देवरूपिण्यां विष्णुः सर्वगुहाशयः॥८॥
(श्रीमद्भागवत, स्क० १०, अ० ३)

अर्थ—भगवान भक्तों को अभय करनेवाले हैं। वे सर्वत्र सब रूप में हैं, उन्हें आना-जाना नहीं है। इसलिए वे वासुदेवजी के मन में अपनी समस्त कलाओं के साथ प्रकट हो गये॥१६॥ उसमें विद्यमान रहने पर भी अपने को अव्यक्त से व्यक्त कर दिया। भगवान की ज्योति को धारण करने के कारण वसुदेवजी

सूर्य के समान तेजस्वी हो गये, उन्हें देखकर लोगों की आँखें चौंधिया जाती थीं। कोई भी अपने बल, वाणी या प्रभाव से उन्हें दबा नहीं सकता था॥१७॥ भगवान के उस ज्योतिर्मय अंश को, जो जगत का परम मंगल करनेवाला है, वसुदेवजी के द्वारा आधान किये जाने पर देवी देवकी ने ग्रहण किया। जैसे पूर्व दिशा चन्द्रदेव को धारण करती है, वैसे ही शुद्ध सत्त्व से सम्पन्न देवी देवकी ने विशुद्ध मन से सर्वात्मा एवं आत्मस्वरूप भगवान को धारण किया॥१८॥ भगवान सारे जगत के निवासस्थान हैं। देवकी उनका भी निवासस्थान बन गई। परन्तु घड़े आदि के भीतर बन्द किए हुए दीपक का और अपनी विद्या दूसरे को न देनेवाले ज्ञानखल की श्रेष्ठ विद्या का प्रकाश जैसे चारों ओर नहीं फैलता, वैसे ही कंस के कारागार में बन्द देवकी की भी उतनी शोभा नहीं हुई॥१९॥

जनार्दन के अवतार का समय निशीथ था। चारों ओर अंधकार का साम्राज्य था। उसी समय भगवान विष्णु देवरूपिणी देवकी के गर्भ से प्रकट हुए॥८॥

इन श्लोकों से भगवान का जन्म लेना पूर्ण रूप से विदित होता है।

ययाहरद् भुवो भारं तां तनुं विजहावजः।
कण्टकं कण्टकेनेव द्वयं चापीशितुः समम्॥३४॥
यथा मत्स्यादि रूपाणि धत्ते जह्याद् यथा नटः।
भूभारः क्षपितो येन जहौ तच्च कलेवरम्॥३५॥
(श्रीमद्भागवत, स्क० १, अ० १५)

अर्थ—भगवान कृष्ण ने लोक-दृष्टि में जिस यादव-शरीर से पृथ्वी का भार उतारा था, उसका वैसे ही परित्याग कर दिया, जैसे कोई काँटे से काँटा निकालकर फिर दोनों को फेंक दे।

भगवान की दृष्टि में दोनों ही समान हैं॥३४॥

जैसे वे नट के समान मत्स्यादि रूप धारण करते हैं और उनका त्याग कर देते हैं, वैसे ही उन्होंने जिस यादव-शरीर से पृथ्वी का भार दूर किया था, उसका भी त्याग कर दिया॥३५॥

महाभारत, मूसलपर्व के निम्नलिखित श्लोकों से भी भगवान श्रीकृष्ण का शरीर त्यागना और उसका जलाया जाना विदित है।

जैसे—

ततः शरीरे रामस्य वासुदेवस्य चोभयोः।
अन्विष्य दाहयामास पुरुषैराप्तकारिभिः॥
(अध्याय ७, श्लोक ३१)

अर्थ—अर्जुन ने वासुदेव और बलदेवजी के शरीरों को खोज कर सत्य और ठीक कर्म करनेवाले आप्त पुरूषों के द्वारा उनका दाह कराया॥३१॥

यः स मेघवपुः श्रीमान्बृहत्पंकजलोचनः।
स कृष्णः सह रामेण त्यक्त्वा देहं दिवं गतः॥
(अध्याय ८, श्लोक ८)

अर्थ—अर्जुन बोले कि जिसकी देह-श्री बादल-सदृश और दोनों नेत्र विशाल कमलदल के तुल्य थे, उस श्रीमान् कृष्ण ने राम के सहित शरीर छोड़कर सुरलोक गमन किया है॥८॥

श्रीमद्भागवत, स्कन्ध ११, अध्याय ३१, श्लोक ६ में—

यथा—

लोकाभिरामां स्वतनुं धारणाध्यानमंगलम्।
योगधारणयाऽग्नेय्यदग्ध्वा धामाविशत्स्वकम्॥

अर्थ—भगवान का श्रीविग्रह उपासकों के ध्यान और धारणा का मंगलमय आधार है और समस्त लोकों के लिए परम

रमणीय आश्रय है; इसलिए उन्होंने अग्नि देवता-सम्बन्धी योग-धारणा के द्वारा उसको जलाया नहीं, सशरीर अपने धाम में चले गये॥६॥

इससे विदित होता है कि भगवान श्रीकृष्ण ने सशरीर निज धाम गमन किया था।

जबकि श्रीमद्भागवत में ही श्रीकृष्ण का शरीर छोड़ना भी लिखा है और इसका मेल महाभारत से भी है, तब मैं उनके शरीर-त्याग और अर्जुन-द्वारा उनके जलाये जाने में ही विश्वास करता हूँ। और तब उनका शरीर इन्द्रियातीत भी कैसे माना जा सकता है, जबकि उनके समय के लोगों ने उनका और उनके परिणामों को भली भाँति दर्श-स्पर्शादि किया था? अतएव उनके शरीर को अज, अव्यक्त और इन्द्रियातीत मानना बुद्धि-विपरीत और अन्धी श्रद्धा-मात्र है। हाँ, उस शरीर में व्यापक परमात्मा को कथित विशेषणों से युक्त जानना पूर्णरूपेण यर्थाथ है। इसी कारण से मैंने भगवान के अज, अव्यक्त और इन्द्रियातीत आत्म-स्वरूप को परमात्मा कहकर यत्र-तत्र प्रसंगानुसार विदित किया है।

गीता-प्रेस, गोरखपुर से प्रकाशित श्रीमद्भगवत के दशम स्कन्ध के अध्याय १०७, श्लोक ३१ की पादटिप्पणी में भगवान श्रीकृष्ण की बाल-लीला की व्याख्या करते हुए टीकाकार ने भ्रम पैदा किया है।

टीकाकार ने लिखा है—भगवान की लीला पर विचार करते समय यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि भगवान का लीलाधाम, भगवान के लीलापात्र, भगवान का लीला-शरीर और उनकी लीला प्राकृत नहीं होती। भगवान में देह-देही का भेद नहीं है। महाभारत में आया है।

न भूतसंघसंस्थानो देवस्य परमात्मनः।
यो वेत्ति भौतिकं देहं कृष्णस्य परमात्मनः॥
स सर्वस्माद् बहिष्कार्यः श्रौतस्मार्तविधानतः।
मुखं तस्यावलोक्यापि सचैलः स्नानमाचरेत्॥

परमात्मा का शरीर भूत-समुदाय से बना नहीं होता। जो मनुष्य श्रीकृष्ण परमात्मा के शरीर को भौतिक जानता-मानता है, उसका समस्त श्रौत-स्मार्त कर्मों से बहिष्कार कर देना चाहिए अर्थात् उसका किसी भी शास्त्रीय कर्म में अधिकार नहीं है। यहाँ तक कि उसका मुँह देखने पर भी सचैल (वस्त्र-सहित) स्नान करना चाहिए।

एक मात्र मूर्तिपूजा को ही मोक्ष का उपाय बतानेवाले यही भूल करते हैं। भगवान श्रीकृष्ण ने जन्म ग्रहण किया, गोकुल में बाललीला (मटकी फोड़ना, मक्खन चुराना, वस्त्र छिपाना आदि) की और बालरूप में की। यह लीला प्राकृत थी। अप्राकृत होती, तो सबों के लिए गोचर नहीं होती; क्योंकि अप्राकृत पदार्थ का इन्द्रिय-गोचर असम्भव है। देह-देही का भेद तो स्वयं भगवान ने बताया है—'देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।'—दूसरा अ०, श्लोक ३० तथा गीता के १३ वें अध्याय में शरीर और शरीरी का भेद बताते हुए शरीर को क्षेत्र और उसमें स्थित अपने को क्षेत्रज्ञ बताया है।

टीकाकार ने किसी मान्य धर्मग्रन्थ से स्पष्ट रूप में उद्धरण देकर नहीं बताया है कि भगवान की लीला प्राकृत नहीं तथा उसमें देह-देही का भेद नहीं। महाभारत से जो उन्होंने उद्धरण दिया है, वह उनके तर्क के लिए भी सटीक नहीं बैठता। उन्होंने यह भी नहीं बताने का कष्ट किया है कि महाभारत के किस स्थल पर और किस प्रसंग में यह बात आयी है। भगवान

श्रीकृष्ण को उनके काल में लोगों ने देखा, स्पर्श किया, तो क्या वे ऐसे लोग थे, जिन्हें देखकर दूसरे सचैल (वस्त्र-सहित) स्नान कर लेते थे?

श्रीमद्भागवत, स्कन्ध १, अ० १५, श्लोक ३४-३५ से विदित होता है कि भगवान श्रीकृष्ण के समय के पहले से ही पृथ्वी पर पापाचारी लोग बहुत हो गये थे और वे पृथ्वी के भार-रूप थे। वे उस समय के शिष्टों को दुःख देनेवाले कंटक (काँटा)-रूप थे। इस भार-रूप काँटे को निकालकर दूर करना बहुत ही आवश्यक था। भगवान विष्णु ने यदुवंश में इसी कारण अवतार लिया था कि उस काँटे को निकालकर दूर किया जाय। अतएव उनका इस वंशवाला शरीर—यादव-शरीर था। यह शरीर भी एक ऐसा काँटा था, जिसके द्वारा उन्होंने भू-भाररूप काँटे को निकालकर दूर कर दिया और अपने से ग्रहण किया हुआ उस यादव-शरीररूप काँटे को भी उन्होंने परित्याग कर दिया। भगवान की दृष्टि में दोनों काँटे अर्थात् भू-भाररूप काँटा और अपना यादव-शरीररूप काँटा, जिससे भू-भाररूप काँटे को निकाला, दोनों समान थे। जैसे नट मत्स्यादि रूप धारण करते हैं और उन्हें त्यागते हैं, वैसे ही उन्होंने यादव-शरीर धारण किया और उसे त्याग दिया था। भगवान का वह यादव शरीर इन्द्रिय-गोचर था। श्रीमद्भागवत, स्कन्ध १०, अध्याय २, श्लोक १६ से १९ तक और इसी स्कन्ध के अ० ३, श्लोक ८ से विदित होता है कि (यादव-श्रेष्ठ) वसुदेव (भगवान कृष्ण के पिता) के द्वारा आधान किये जाने पर देवी देवकी (भगवान कृष्ण की माता) ने उन्हें धारण किया। और भगवान माता देवकी के गर्भ से प्रकट हुए अर्थात् जन्म लिया। इसमें भगवान के जन्म में कोई अप्राकृतिक कार्य विदित नहीं होता अर्थात् उनका जन्म

प्राकृतिक रूप से ही हुआ। गर्भाधान का होना, कुछ काल गर्भ में रहना, फिर गर्भ से प्रगट होना या जन्म लेना प्राकृतिक बात ही है। अप्राकृतिक बात का इसमें लेश भी नहीं है।

महाभारत के मूसल पर्व, अ० ७, श्लोक ३१ तथा अ० ८, श्लोक ८ में यह व्यक्त किया गया है कि भगवान कृष्ण ने शरीर छोड़ा और अर्जुन ने आप्त पुरुषों के द्वारा उसका दाह कर्म कराया। ये बातें अप्राकृतिक वस्तु को इन्द्रियगोचर मानना बुद्धि-विपरीत है। महाभारत और श्रीमद्भागवत दोनों के रचयिता व्यासदेव माने जाते हैं। इनके द्वारा भगवान के शरीर को काँटा बताया जाना और जलाया जाना, क्या अप्राकृतिक शरीर के लिए कहा गया है? ऐसा कदापि नहीं हो सकता। भगवान के यादव-शरीर को प्राकृतिक शरीर कहनेवाले का दर्शन करके सचैल स्नान प्रायश्चित्त-रूप में करना चाहिए, तो व्यासदेव के लिए उस हेतु अनादर का भाव रखना आवश्यक हो जाता है, जिसके पात्र व्यासदेवजी कदापि नहीं। श्रीमद्भागवत में और महाभारत में जो वर्णन भगवान कृष्ण के इन्द्रियगोचर शरीर के लिए अप्राकृतिक कहा गया है, सो वचन व्यासदेवजी के नहीं हैं, टीकाकार के हैं। श्रीमद्भगवद्गीता (जो महाभारत का ही एक छोटा अंश है) के सातवें अध्याय में भगवान कहते हैं–

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामऽबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥२४॥

अर्थात् 'मेरे परम अविनाशी और अनुपम स्वरूप को न जाननेवाले बुद्धिहीन लोग इन्द्रियों से अतीत मुझको इन्द्रियगम्य मानते हैं।' इससे विदित होता है कि भगवान का अवयक्त (इन्द्रियों को अगोचर) रूप ही उनका परम भाव रूप है। उनको केवल व्यक्त भाव में ही जानना अज्ञानियों का काम है। व्यक्त

रूप प्राकृतिक के अतिरिक्त अप्राकृतिक मानने-योग्य नहीं है। श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में यह बात कहीं भी नहीं है कि भगवान के क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ में अभेद है। ऐसा अभेद-ज्ञान बुद्धि-विपरीत भी है। श्रीमद्‌भगतद्‌गीता, अध्याय १३, श्लोक २ में है–

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम॥

अर्थात्‌ 'हे भारत! समस्त क्षेत्रों–शरीरों में रहनेवाला मुझको क्षेत्रज्ञ जान। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के भेद का ज्ञान ही ज्ञान है, ऐसा मेरा मत है।' (महात्मा गाँधी)। परन्तु इसके साथ भगवान ने यह व्यक्त नहीं किया है कि मेरे क्षेत्र और सब क्षेत्रों में रहनेवाले मुझको, एक ही जानो। फिर भी कुछ लोग इस अभेदता को ही लोगों में विश्वास कराना चाहते हैं, जो अयोग्य है।

॥ सप्तम अध्याय समाप्त ॥

अध्याय ८

अथ अक्षरब्रह्मयोग

इस अध्याय में परमाक्षर* (सर्वव्यापी ब्रह्म परमात्मा) का वर्णन है।

शरीरोपाधि-सहित अनाशी आत्मतत्त्व से जो उच्च है अर्थात् जो शरीरोपाधि से रहित है, उस परमाक्षर (श्रेष्ठतम अविनाशी) को ब्रह्म कहते हैं। शरीरोपाधि-सहित शरीर-निवासी आत्मा को अध्यात्म कहते हैं। प्राणियों को उत्पन्न करने के व्यापार को कर्म कहते हैं। नाशवान रूपों को अधिभूत कहते हैं। नाशवानों में रहनेवाला चेतनात्मक पुरुष अधिदैव है और सब यज्ञों के अधिपति सर्वव्यापी परमात्मा ही हैं। जो परमात्मा का स्मरण करता हुआ शरीर-त्याग करता है, वह उनमें जा मिलता है। जीवनकाल में सदा जो जिस ख्याल में लगा रहता है, मृत्युकाल में भी उसी ख्याल में लगा हुआ, वह उसी का स्मरण करता हुआ शरीर त्यागता है और उसी में जा मिलता है। मृत्युकाल बड़ा ही विकट कष्ट का होता है। इसमें अचेत हो जाना स्वाभाविक है। परमात्म-प्राप्ति का गहरा प्रेम और उसमें तन-मन से मग्न रहकर, जीवन भर ध्यान-योग-द्वारा जो उनकी उपासना करता रहेगा, वही उस कठिन काल में भी परमात्मा को भजता हुआ शरीर-त्याग कर सकेगा। जो सर्वदा अपने मन और बुद्धि को परमात्मा में लगाये रहकर अपने कर्तव्य कर्मों का पालन करता रहेगा, अथवा 'तन काम में, मन राम में' *वा 'पलटू कारज सब करै, सुरत रहै अलगान।' का साधन करता

---

*इस अध्याय के श्लोक ३ में 'परमाक्षर ब्रह्म' वर्णित हुआ है।

रहेगा और एकान्त ही होकर नित्य नियमित रूप से भी ध्यानाभ्यास करता रहेगा, वह अन्त में अवश्य ही जीवन्मुक्त होगा और परमात्मा से जा मिलेगा। जो जिसका सदा स्मरण करता है और देह-त्याग के काल में उसी में अपने को लगाये रहकर शरीर त्यागता है, वह उसमें जा मिलता है।

चित्तवृत्ति के निरोध का अभ्यास करके उसे दूसरी ओर न जाने देकर जो परमात्मा की ओर एकाग्र होता है, वह दिव्य परम पुरुष को पाता है। सर्वज्ञ, पुरातन, शासक, पालक, अणु से भी छोटा और सूर्य-सदृश ज्योतिर्मय (ज्योतिर्मय विन्दु) परम पुरुष के रूप को भक्तियुक्त होकर और योगबल से अपने प्राण (चेतना–संवित्–सुरत) को अपने भौंओं के बीच में स्थिर रखकर दर्शन करता हुआ, अपने शरीर से चलने के समय या मृत्यु के समय जो डूबा रहता है, वह उस परम पुरुष को पाता है। [मरण-काल में ऐसा उसको नहीं हो सकता, जो केवल कर्मयोग करे और छठे अध्याय में बतायी हुई विधि से ध्यानयोग के सहित (इस अध्याय के श्लोक ७ में वर्णित रूप से) कर्मयोग का जीवनभर साधन न करता रहे। इस अध्याय के श्लोक ७ में कथित कर्मयोग ही सब प्रकार के कर्मयोगों में उत्तत है। इसके अतिरिक्त दूसरे सबको ऐसा कहना–'सो सब करम धरम जरि जाऊ। जहँ न राम पदपंकज भाऊ॥' (गो० तुलसीदासजी) अनुचित नहीं होगा।]

इस अध्याय के श्लोक ३ में जिस परमाक्षर ब्रह्म (परमात्मा) का बखान वेदविद् (ज्ञानवान) करते हैं और विरक्त लोग जिसकी प्राप्ति की इच्छा से ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, उसकी प्राप्ति का साधन यह है कि इन्द्रियों के सब द्वारों को रोककर,

---

*इस अध्याय के श्लोक ७ का भावार्थ यही है।

मन को हृदय (योगहृदय) में स्थिर करके और प्राण को मस्तक में समेटकर समाधिस्थ हो अर्थात् तुरीयावस्था में अपने को लाकर ॐ शब्दब्रह्म का भजन करे।

इस प्रकार भजन करता हुआ जो योगी शरीर त्यागता है, वह परमाक्षर को पाकर परम गति अर्थात् ब्रह्मनिर्वाण को प्राप्त करता है। इस गति की आकांक्षा रखनेवालों को नित्य निरन्तर परमात्मदेव का भजन कर, नित्ययुक्त योगी होना चाहिए। तब वह उस परमात्मदेव को पावेगा। वह दुःखमय नाशवान संसार को त्यागकर, जन्म-मरण के चक्र को पार कर जाएगा।

ब्रह्मलोक-सहित सब लोक बनते और नाश होते रहते हैं। ब्रह्मा का एक दिन एक हजार युगों का और उतने ही समय की उसकी एक रात होती है। उस दिन अव्यक्त प्रकृति से यह व्यक्त सृष्टि बनती है और रात होने पर वह सृष्टि नष्ट होकर अव्यक्त में लीन हो जाती है। इस अव्यक्त प्रकृति से परे दूसरा अव्यक्त भाव और भी है। सबके नाश होने पर भी जिसका नाश नहीं होता है और जिसको पाकर प्राणी का जन्म नहीं होता है, वही परमात्मा का परम धाम है।

इस अध्याय में यह भी कहा गया है कि उत्तरायण के अन्दर के छह मास के शुक्लपक्ष में, दिन के समय जबकि अग्नि की ज्वाला उठ रही हो, उस समय जिस ब्रह्मज्ञानी की मृत्यु हो, वह ब्रह्म को पाता है और दक्षिणायन के छह मास के कृष्णपक्ष में, जब रात्रि के समय धुआँ फैला हुआ हो, उस समय मरनेवाला चन्द्रलोक को पाकर पुनर्जन्म पाता है। परन्तु पूर्व कही गई विधि से जीवन बिताकर मृत्यु के समय पूर्व कथनानुसार जो प्राण स्थापित रखेगा, उस पर उत्तरायण और दक्षिणायन का कोई प्रभाव नहीं हो सकेगा। वह पूर्वलिखित गति को अवश्य प्राप्त

करेगा। हाँ! यदि उत्तरायण को ऊपर* के छह स्थान [(१) सहस्त्रदल कमल, (२) त्रिकुटी, (३) शून्य, (४) महाशून्य, (५) भँवरगुफा और (६) सत्यलोक] मान लें, दिन और प्रकाश को अन्तर्ज्योति मानें तथा नीचे* के छह चक्रों [(१) आज्ञा, (२) विशुद्ध, (३) अनाहत, (४) मणिपूरक, (५) स्वाधिष्ठान और (६) मूलाधार] को दक्षिणायन मान लें, तो पूर्व कथनानुसार शरीर त्यागनेवाले की गति में मेल मिल जायेगा। भीष्म पितामह ने बहुत कष्ट सहन कर उत्तरायण में शरीर छोड़ा था, परन्तु ब्रह्म के पास न जाकर वसुओं के निवासस्थान देवलोकवाले स्वर्ग में गये।*

॥ अष्टम अध्याय समाप्त ॥

---

*भूमण्डल का चित्र देखें—ऊपर उत्तर और नीचे दक्षिण।

*वसुभिः सहितं पश्य भीष्मं शान्तनवं नृपम्।

(महाभारत, स्वर्गारोहण पर्व, अ० ४, श्लोक २१)

भावार्थ—राजा शान्तनु के पुत्र भीष्म पितामह को वस्सुओं के साथ देखो।

वसूनेव महातेजा भीष्मः प्राप महाद्युतिः।
अष्टावेवहि दृश्यन्ते वसवो भरतवर्षभ॥

(महाभारत, स्वर्गारोहण पर्व, अ० ५, श्लोक ११-१२)

भावार्थ—महातेजस्वी बड़े पराक्रमी भीष्मजी वसुओं में लीन हो गये।

श्रीमद्भगवद्गीता 'महाभारत' का एक अति छोटा, परन्तु महातेजस्वी अंश है। अतएव महाभारत से इसका मेल अवश्य मिलना चाहिए।

अध्याय ९

अथ राजविद्याराजगुह्ययोग

इस अध्याय का विषय राजविद्याराजगुह्ययोग है।

यह नाम बड़ा आकर्षक है। इसमें कहा गया है कि इसमें दिया गया ज्ञान अकल्याण से बचावेगा। इसमें पापों से मुक्त करनेवाला विज्ञान-सहित ज्ञान बतलाया गया है। सब गूढ़ और गुप्त रहस्यों में यह सर्वश्रेष्ठ है और राजाओं की विद्या है। राजाओं की विद्या यह इसलिए है कि भगवान श्रीकृष्ण ने बतलाया है कि मैंने यह विद्या या ज्ञान पहले सूर्य को दिया, सूर्य ने राजा मनु को दिया, मनु ने राजा इक्ष्वाकु को दिया और राजा जनक भी इसका आचरण करते थे। इस तरह यह विद्या राजाओं की परम्परा में बहुत दिनों तक था, इसीलिए यह राजविद्या कही गई है। कुछ लोग 'राजविद्या' का अर्थ श्रेष्ठ विद्या भी करते हैं। अवश्य ही इसकी श्रेष्ठता भी अस्वीकार करनेयोग्य नहीं है। यह पवित्र और उत्तम विद्या प्रत्यक्ष बोध देनेवाली, धर्ममय, आचरण में सुख-साध्य और अक्षय है; परन्तु इसमें श्रद्धा की विशेषता है।

श्रद्धावन्त परम गति प्राप्त करेगा और श्रद्धाहीन संसार-चक्र में भ्रमता हुआ सांसारिक दुःखों को भोगता ही रहेगा। गुरुवाक्य, सच्छास्त्र और सद्विचार; तीनों का मेल मिलने पर जो अटल विश्वास होता है, उसी को श्रद्धा कहते हैं। परमात्मा की स्थिति में, उसके व्यक्त और अव्यक्त रूप और स्वरूप की भक्ति से मुक्ति होने में गुरु-वाक्य, सच्छास्त्र और सद्विचार; तीनों का मेल है। अतएव इन बातों में अवश्य ही श्रद्धा होनी चाहिए।

परमात्मा का अव्यक्त स्वरूप ऐसा है कि उनमें समूचा विश्व भरा हुआ है। उनमें और उनके ही आधार पर सब रहते हैं; परन्तु वे किसी आधार पर नहीं है। उनमें रहते हुए सब उनको नहीं पहचानते, अपने आधार को प्रत्यक्ष रूप से नहीं जानते और परमात्मा भी अपने में सबको रखते हुए तथा सबका आधार बनते हुए, अत्यन्त निर्लिप्त भाव को धारण किए रहते हैं। अतएव ये ऐसे ही हैं, जैसे कि परमात्मा में सम्पूर्ण विश्व है ही नहीं। सबकी उत्पत्ति का कारण और सबके पालक होकर वे सबमें व्यापक रहते हुए भी उपर्युक्त कारणों से उनमें नहीं हैं। यह परमात्मा का दिव्य योगबल है। जैसे सर्वत्र घूमता हुआ महाबतास सदा आकाश में रहता है, उसी भाँति सारा विश्व परमात्मा में रहता है। कल्पारम्भ में सबको परमात्मा रचते हैं और कल्पान्त में सब उनकी प्रकृति में लय होते हैं। उनका यह सृष्टि व्यापार अनवरत रूप से होता ही रहता है। पर कर्म का बन्धन परमात्मा को नहीं होता है; क्योंकि परमात्मा इसमें अनासक्त रहकर उदासीन हो बरतते रहते हैं। यह उनकी निजी लीला है, न कि किसी अभ्यास-द्वारा उन्होंने अपने को ऐसा बनाया है। प्रभु परमात्मा के अधीनस्थ परा और अपरा; दोनों प्रकृतियों में यह सृष्टि का व्यापार उनकी प्रेरणा से होता रहता है। यह विश्व घटमाल (रहट-धरियों) की भाँति घूमा करता है।

श्रीमद्भगवद्गीता का उपदेश भगवान श्रीकृष्ण-द्वारा संसार को मिला है। वे महायोगेश्वर थे। वे हरि के विशेषावतार कहे जाते हैं और प्राकृतिक गुणों से मुक्त भी कहे जाते हैं। महाभारत में लिखा है–

आत्मा क्षेत्रज्ञ इत्युक्त संयुक्तः प्राकृतैर्गुणैः।
तैरेवतु विनिर्मुक्तः परमात्मेत्युदाहृतः॥

(शान्ति पर्व, १८७/२४)

अर्थ–जब आत्मा प्रकृति में या संसार में बद्ध रहती है, तब उसे क्षेत्रज्ञ या जीवात्मा कहते हैं और वही प्राकृत गुणों से यानी प्रकृति या शरीर के गुणों से मुक्त होने पर 'परमात्मा' कहलाता है।

अव्यक्त आत्म-स्वरूप से श्रीकृष्ण परमात्मा और व्यक्तरूप में मनुष्य-शरीरधारी थे। उनके अनुसरण के द्वारा लोकपथ कल्याणमय हो, इसीलिए वे भी योगाभ्यास किया करते थे। उनकी योग की शक्तियाँ तो उनके शिशुकाल से ही संसार में प्रकट हो गई थीं। तात्पर्य यह कि उनको योगबल प्राप्त करने के लिए योगाभ्यास करना नहीं था। इनके नर-रूप को देखकर इनकी अवज्ञा करनी मूर्खता और आसुरी भाव है। मर्यादा-पुरुषोत्तम (दाशरथि) श्रीराम भगवान, वैकुण्ठवासी वा क्षीरसमुद्रवासी भगवान विष्णु, भगवान विष्णु, भगवान शंकर और भगवती शक्ति माता के लिए भी उपर्युक्त बातें लागू हैं। इनके इन्द्रियगम्य क्षेत्र दिव्य भले ही हों, परन्तु वे अप्राकृत* (निर्मायिक) गुणों से युक्त नहीं हो सकते। नर-शरीर वा देव-शरीर वा किसी प्रकार के क्षेत्र का क्षेत्रज्ञ ही प्राकृत गुण-रहित होने से परमात्म-स्वरूप है। सन्त की भी यही दशा मानी जाती है।

सन्त भगवन्त अन्तर निरन्तर नहिं किमपि,
मति विमल कह दास तुलसी।
(विनय-पत्रिका)

साधु मिलै साहब मिलै, अन्तर रहा न रेख।
मनसा वाचा कर्मणा, साधू साहब एक।।
(कबीर साहब)

साहिब से सतगुरु भये, सतगुरु से भये साध।
ये तीनों अंग एक है, गति कछु अगम अगाध।।
(गरीब दास)

---

*'अप्राकृत रूप' दिव्य वा अदिव्य इन्द्रियों से जानने योग्य नहीं है।

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवः सदाशिवः।
न गुरोरधिकः कश्चिन्त्रिषु लोकेषु विद्यते॥५६॥
दिव्यज्ञानोपदेष्टारं देशिकं परमेश्वरम्।
पूजयेत्परया भक्त्या तस्य ज्ञानफलं भवेत्॥५७॥
यथा गुरुस्तथैवेशो यथैवेशस्तथा गुरुः।
पूजनीयो महाभक्त्या न भेदो विद्यतेऽनयो॥५८॥
(योगशिखोपनिषद्, अ० ५)

अर्थ—गुरुदेव ही ब्रह्मा, विष्णु और सदाशिव हैं। तीनों लोकों में गुरु से बढ़कर कोई नहीं है॥५६॥ दिव्यज्ञान के उपदेश देनेवाले प्रत्यक्ष उपस्थित परमेश्वर की, भक्ति के साथ उपासना करे, तब वह (शिष्य) ज्ञान का फल प्राप्त करेगा॥५७॥ जैसे गुरु हैं, वैसे ईश हैं; जैसे ईश हैं, वैसे गुरु हैं; इन दोनों में भेद नहीं है—इस भावना से पूजा करे॥५८॥

स्वयं गीता में भी तत्त्ववेत्ता ज्ञानी की सेवा और उनके आदरभाव करने अर्थात् अवज्ञा नहीं करने के लिए लिखा है। (अध्याय ४, श्लोक ३४)

अव्यक्त और सर्वव्यापी होने के कारण परमात्मदेव के लिए अचर चर रूप हरि सर्वगत सर्वदा वसत.....'(विनय-पत्रिका) कहना अयुक्त नहीं है। अपनी श्रद्धानुकूल किसी एक रूप को प्रभु परमात्मा का रूप मानकर भक्ति का आरम्भ कर देना अनुचित, अयोग्य और अयुक्त नहीं है। इस नौवें अध्याय में परमात्मा के व्यक्त और अव्यक्त दोनों रूपों का वर्णन है, तो भक्त व्यक्त से अव्यक्त स्वरूप तक को पा जाने की इच्छा और प्रयास क्यों न करे?

इस अध्याय में परमात्मा के व्यक्त रूप की बाह्य पूजा से उपासना करने को विशेष रूप से कहा गया है। कीर्तन, प्राणायाम और ध्यान से उनकी उपासना करनी चाहिए। 'श्रद्धा-प्रीति से

अर्पित पुष्प, पत्र और जल आदि को वे ग्रहण करते हैं।' अद्वैत भाव से, द्वैत भाव से वा अनेक भाँति के ज्ञानयज्ञ से उस सर्वव्यापी परमात्मा को भजना चाहिए। यज्ञ का संकल्प, यज्ञ-स्वधा (पितरों के लिए अर्पित अन्न वा अर्पण करने का मंत्र), यज्ञ की वनस्पति, आहुति, हवन-द्रव्य, जगत का पिता, माता, पितामह, धारण करनेवाला, जानने-योग्य, पवित्र ॐकार (शब्दब्रह्म, स्फोट, उद्‌गीथ और प्रणव), ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, गति पोषक, प्रभु, साक्षी, निवास, आश्रय, हितेच्छु, उत्पत्ति, नाश, स्थिति, भण्डार, अविनाशी बीज, धूप देनेवाला, वर्षा रोकनेवाला, वर्षा बरसानेवाला, अमरता, मृत्यु, असत् (अपरा प्रकृति) और सत् (परा प्रकृति)—ये सब परमात्मा ही हैं।

परमात्मा को अनन्य भाव से भजनेवाले को आवश्यक वस्तुओं की प्राप्ति कराने और रक्षा करने का भार स्वयं परमात्मा ही उठाते हैं।

तीनों वेदों के अनुकूल यज्ञ करके यज्ञकर्ता स्वर्ग को भोगकर पुण्य क्षीण होने पर पुनः इस मृत्युलोक में जन्म लेता है और जन्म-मरण के चक्र में भरमता रहता है।

श्रद्धायुक्त हो देवताओं को पूजनेवाला, विधिरहित होते हुए भी परमात्मा को ही भजता है। वह परमात्मा को ही सर्व यज्ञों का भोगनेवाला नहीं जानता, इसलिए गिरता (पुनर्जन्म को प्राप्त होता) है। इस तरह देवताओं को भजननेवाला देवलोकों को पाता है, पितरों का पूजक पितृलोक पाता है, प्रेतादि का पूजक उनके लोकों को पाता है और परमात्मा का भक्त परमात्मा को पाता है। (व्यक्त रूप का भक्त व्यक्त रूप को और अव्यक्त का भक्त अव्यक्त परमात्म-स्वरूप को पाता है।)

भक्त को चाहिए कि जो करे, जो खाय, जो हवन में

होमे और जो तप करे, वह सब परमात्मा को अर्पित करे। ऐसा त्यागी भक्त कर्म-बन्धन से मुक्त होकर परमात्मा में मिल जाएगा। (करना और भोगना चित्त का धर्म है) केवल बौद्धिक और मौखिक अर्पण से यथार्थ अर्पण होना असम्भव है। इसके लिए समाधि-साधन द्वारा स्थितप्रज्ञता चाहिए, नहीं तो स्थितप्रज्ञता-विहीन बौद्धिक और मौखिक अर्पण, अनर्पण हो जाएगा और कबीर साहब के वाक्यानुकूल फल भोगेगा; यथा-

तन मन दिया तो भल किया, सिर का जासी भार।
कबहूँ कहै कि मैं दिया, धनी सहैगा मार॥

(कबीर साहब)

चित्त-धर्म पर विजय प्राप्त करके ही समाधि-द्वारा स्थित-प्रज्ञता प्राप्त होगी। श्रवण, मनन, निदिध्यासन और अनुभवज्ञान की पूर्णता की स्थिति में चित्त-धर्म पर विजय प्राप्त होगी। निदिध्यासन के साधन (प्राणस्पन्दन का निरोध वा वासना-परित्याग) के द्वारा एक तत्त्व का दृढ़ाभ्यास करते-करते मन पर पूर्णरूप से विजय प्राप्त होगी (मुक्तिकोपनिषद् अ० २ देखें)

परमात्मा सबमें सम भाव से रहते हैं, कोई उनको प्रिय या अप्रिय नहीं है; परन्तु जो उनको भक्ति-सहित भजता है, वे उसमें रहते हैं अर्थात् सर्वव्यापी परमात्मा में अपने को वह आत्मज्ञान से प्रत्यक्ष पाता है और परमात्मा उसमें रहते हैं, जैसे जल में जल हो-

जौं जल में जल पैठ न निकसे, यों ढुरि मिला जुलाहा।

(कबीर साहब)

जल तरंग जिउ जलहि समाइया............।

(गुरु नानक)

................जानत तुम्हहिं तुम्हइ होइ जाई।

(गोस्वामी तुलसीदास)

घोर दुराचारी यदि अनन्य भाव से परमात्मा को भजे, तो उसके अच्छे संकल्प के कारण वह साधु मानने-योग्य होता है। वह शीघ्र धर्मात्मा हो जाता है और सदा की शान्ति प्राप्त करता है।

प्रभु परमात्मा के भक्त को भवसागर की नाशवन्त गतियों से मुक्ति मिल जाती है। जब पापयोनि में जन्म लेनेवाली स्त्रियाँ और शुद्र, जो भी परमात्मा की शरण लेते हैं, वे परम गति पाते हैं, तब पुण्ययोनि में जन्म लेकर जो भगवान के भक्त होते हैं, उनके लिए कहना ही क्या? इसलिए हे लोगो! इस अनित्य और सुखरहित लोक में जन्म लेकर भगवान का भजन करो। उनमें मन लगाओ, उनके भक्त बनो, उनके लिए यज्ञ करो और उन्हें प्रणाम करो। इस तरह उनमें परायण रहकर आत्मा को परमात्मा के साथ जोड़कर उनको पाओगे। परमात्मा के स्थूल-व्यक्त सगुण नररूप, सगुण देवरूप, अणु-से-अणु सूक्ष्म सगुण रूप, ॐ (निर्गुण शब्द-ब्रह्म) रूप और स्वरूप हैं। आत्मा का मिलाप या योग परमात्म-स्वरूप से होगा। मन सूक्ष्म-सगुण तक युक्ति से लग सकता है। मनविहीन चेतन-आत्मा जब निर्गुण शब्द-ब्रह्म ॐ में लगेगी, तब उससे आकृष्ट हो उसके लय स्थान (परमात्म-स्वरूप) तक पहुँचेगी। आत्मा-परमात्मा के एकीभाव–

न पल बिछुड़े पिया हमसे न हम बिछुड़ें पियारे से।

और–

जौं जल में जल पैठ न निकसे, यों ढुरि मिला जुलाहा।

(कबीर साहब)–की स्थिति प्रत्यक्ष प्रगट हो जाएगी।

स्थूल-सगुण रूप के अतिरिक्त उनके सूक्ष्म-सगुण भाव को भी जानना और उनकी भी उपासना करनी चाहिए। इसलिए गीता में अणु से भी अणु रूप परमात्मा का वर्णन है। निर्गुन

स्वरूप का भी ज्ञान प्राप्त हो, उनकी उपासना की जाय, इसलिए गीता में ॐ तथा अव्यक्त स्वरूप का भी वर्णन है। जैसे भाँति-भाँति के पहिरावे के बदलने से पहननेवाला नहीं बदलता, वह अपने तईं जो का सो ही रहता है, उसी तरह स्थूल-सूक्ष्म तथा सगुण-निर्गुण भावों में परमात्मा ही रहते हैं।

केवल स्थूल सगुण रूप की ही उपासना से और उनकी कृपा से सूक्ष्म सगुण, निर्गुण शब्द-ब्रह्म (ॐ) तथा अव्यक्त स्वरूप परमात्मा के, आप-से-आप मिलने का विश्वास रखना तथा सूक्ष्म सगुण और निर्गुण की उपासना को अनावश्यक प्रतीत करना ठीक नहीं।

यदि वे उपासनाएँ अनावश्यक होतीं, तो गीता में कही ही नहीं जातीं। अध्याय ८ के श्लोक ९ से १३ में इनकी उपासना और उसका फल साफ-साफ कहा गया है।

श्रीमद्भागवत में भी स्थूल सगुण उपासना के अनन्तर शून्य-ध्यान (सूक्ष्म सगुण-उपासना) का क्रमानुसार कथन किया गया है। (स्कन्ध ११, अध्याय १४, श्लोक ३२, ३४, ४२, ४३ और ४४)। अव्यक्त निर्गुण के विषय में सूरदासजी के ये शब्द हैं–

जौं लौं सत्य स्वरूप न सूझत।
तौं लौं मनु मणि कण्ठ बिसारे, फिरत सकल बन बूझत॥
अपनो ही मुख मलिन मन्द मति, देखत दर्पण माँह।
ता कालिमा मेटिबे कारण, पचत पखारत छाँह॥
तेल तूल पावक पुट भरि धरि, बनै न दिया प्रकासत।
कहत बनाय दीप की बातें, कैसे हो तम नासत॥
सूरदास जब यह मति आई, वे दिन गये अलेखे।
कह जाने दिनकर की महिमा, अन्ध नयन बिनु देखे॥

तथा–

अपुनपौ आपुन ही में पायो।
शब्दहि शब्द भयो उजियारो, सतगुरु भेद बतायो॥
ज्यों कुरंग नाभी कस्तूरी,ढूँढ़त फिरत भुलायो।
फिर चेत्यो जब चेतन ह्वै करि, आपुन ही तन छायो॥
राज कुँआर कण्ठे मणि भूषण, भ्रम भयो कह्यो गँवायो।
दियो बताइ और सतज्ञन तब, तनु को पाप नशायो॥
सपने माँहि नारि को भ्रम भयो, बालक कहूँ हिरायो।
जागि लख्यो ज्यों को त्यों ही है, ना कहुँ गयो न आयो॥
सूरदास समुझे की यह गति, मन ही मन मुसुकायो।
कहि न जाय या सुख की महिमा, ज्यों गूँगो गुड़ खायो॥

(भक्तवर सूरदास)

केवल स्थूल-सगुण को ही हठपूर्वक पकड़े नहीं रहना चाहिए। इसीलिए लोकमान्य बालगंगाधर तिलकजी ने 'गीता-रहस्य' के भक्ति-मार्ग प्रकरण में लिखा है–'साधन की दृष्टि से यद्यपि वासुदेव-भक्ति को गीता में प्रधानता दी गई है, तथापि अध्यात्म-दृष्टि से विचार करने पर वेदान्त-सूत्र की नाईं (वे० सू०, ४/१/४) गीता में भी यही स्पष्ट रीति से कहा है कि 'प्रतीक' एक प्रकार का साधन है–वह सत्य, सर्वव्यापी और नित्य परमेश्वर हो नहीं सकता। अधिक क्या कहें? नामरूपात्मक और व्यक्त अर्थात् सगुण वस्तुओं में से किसी को भी लीजिए, वह माया ही हैं; जो सत्य परमेश्वर को देखना चाहे, उसे इस सगुण रूप के भी परे अपनी दृष्टि को ले जाना चाहिए। भगवान की जो अनेक विभूतियाँ हैं, उनमें अर्जुन को दिखलाए गए विश्वरूप से अधि क व्यापक भगवान ने नारद को दिखलाया, तब उन्होंने कहा है, 'तू मेरे जिस रूप को देख रहा है, यह सत्य नहीं है, यह माया

है। मेरे सत्यस्वरूप को देखने के लिए इसके भी आगे तुझे जाना चाहिए।' (महाभारत, शान्तिपर्व, ३३९/४४) और गीता में भी भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन से स्पष्ट रीति से यही कहा है–

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥

(गीता ७/२४)

यद्यपि मैं अव्यक्त हूँ, तथापि मूर्ख लोग मुझे व्यक्त (गीता ७/२४) अर्थात् मनुष्य-देहधारी मानते हैं (गीता ९-११); परन्तु यह बात सच नहीं है, मेरा अव्यक्त स्वरूप ही सत्य है। इसी तरह उपनिषदों में भी यद्यपि उपासना के लिए मन, वाचा, सूर्य, आकाश इत्यादि अनेक व्यक्त और अव्यक्त ब्रह्म-प्रतीकों का वर्णन किया गया है, तथापि अन्त में यह कहा है कि जो वाचा, नेत्र या कान को गोचर हो, वह ब्रह्म नहीं है। जैसे–

यन्मनसा न मनुते येनाऽहुर्मनो मतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥

(केनोपनिषद्, खण्ड १, मंत्र ५)

अर्थ–मन से जिसका मनन नहीं किया जा सकता, किन्तु मन ही जिसकी मनन-शक्ति में आ जाता है, उसे तू ब्रह्म समझ, जिसकी उपासना (प्रतीक के तौर पर) की जाती है, वह सत्य ब्रह्म नहीं है।

'नेति नेति' सूत्र का भी यही अर्थ है। मन और आकाश को लीजिए; अथवा व्यक्त उपासना-मार्ग के अनुसार शालिग्राम, शिवलिंग इत्यादि को लीजिए; या श्रीराम, कृष्ण आदि अवतारी पुरुषों की अथवा साधु पुरुषों की व्यक्त मूर्ति का चिन्तन कीजिए; मंदिरों में शिलामय अथवा धातुमय देव की मूर्ति को देखिए; अथवा बिना मूर्ति का मंदिर या मस्जिद लीजिए–ये सब

छोटे बच्चे की लँगड़ी गाड़ी के समान मन को स्थिर करने के अर्थात् चित्त की वृत्ति को परमेश्वर की ओर झुकाने के साधन हैं। प्रत्येक मनुष्य अपनी-अपनी इच्छा और अधिकार के अनुसार उपासना के लिए किसी प्रतीक को स्वीकार कर लेता है। यह प्रतीक चाहे कितना प्यारा हो, परन्तु इस बात को नहीं भूलना चाहिए कि सत्य परमेश्वर इस 'प्रतीक' में नहीं हैं'—न प्रतीके न हिसः (वे० सू० ४/१/४)—उसके परे है। .... यह मनुष्यों की अत्यन्त शौचनीय मूर्खता का लक्षण है कि वे इस सत्य तत्त्व को तो नहीं पहचानते कि ईश्वर सर्वव्यापी, सर्वसाक्षी, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान और उसके भी परे अर्थात् अचिन्त्य है। किन्तु वे ऐसे नाम-रूपात्मक व्यर्थ अभिमान के अधीन हो जाते हैं कि ईश्वर ने अमुक समय, अमुक देश में, अमुक माता के गर्भ से, अमुक वर्ण का, नाम का या आकृति का जो व्यक्त स्वरूप धारण किया, वही केवल सत्य है और इस अभियान में फँसकर एक-दूसरे की जान लेने तक को उतारू हो जाते हैं।'

महात्मा गाँधी का कथन-'साकार के उस पार निराकार अचिन्त्यस्वरूप है, यह तो सबको समझे ही निरस्तार है। भक्ति की पराकाष्ठा यह है कि भक्त भगवान में विलीन हो जाय और अन्त में केवल एक अद्वितीय अरूपी भगवान ही रह जाएँ।' (अनासक्तियोग, अध्याय १२, श्लोक ५ के अर्थ की टिप्पणी से।)

आचार्य विनोबाजी का कथन—'सगुण पहले, परन्तु उसके बाद निर्गुण की सीढ़ी आनी ही चाहिए, नहीं तो परिपूर्णता नहीं होगी।' (गीता-प्रवचन, पृष्ठ १७३)।

इन उद्धरणों का आशय यह है कि परमात्मा के सगुण और निर्गुण; दोनों रूपों का ज्ञान और उनकी उपासना चाहिए।

राजविद्या का क्या अभिप्राय है, इसके पहले लिखा जा

चुका है। अब 'राजगुह्य' का अभिप्राय भी स्पष्ट रूप से जान लेना आवश्यक है। गुप्त या गुढ़ रहस्यों में जो सबसे विशेष गुप्त हो, उसको राजगुह्य कहना चाहिए। इस अध्याय के किस विशेष रहस्यमय कथन को यह आकर्षक नाम दिया गया है? यदि कहें कि प्रत्यक्ष जानने में आने योग्य स्थूल-सगुण नर-रूप परमात्मा के रूप की अवज्ञा नहीं करके उसमें अत्यन्त श्रद्धा रखकर इस अध्याय में कही गयी रीति से भक्ति करने का जो कथन है, वही राजगुह्य तत्त्व है, तो यह कोई गुप्त और विशेष रहस्यमयी बात नहीं जान पड़ती। यह भक्ति तो भारत में सर्वत्र प्रकट है और अति व्यापक रूप से विदित है। हाँ, यदि उपर्युक्त प्रचलित स्थूल-सगुण भक्ति में सूक्ष्म-सगुण 'अणोरणीयाम्' (विन्दु) रूप की भक्ति और ॐ (शब्दब्रह्म वा ब्रह्मनाद) रूप निर्गुण निराकार-भक्ति मिला दें, तो इस प्रकार की 'सर्वांगपूर्ण परमात्म-भक्ति' को अवश्य 'राजगुह्य' कहेंगे।

यह प्रकट रूप से विख्यात नहीं है और अति स्वल्प संख्यक लोग ही इसे जानते हैं। यदि कहा जाय कि परमात्मा के ये (विन्दु और नाद) रूप प्रत्यक्षावगम (प्रत्यक्ष जानने में आनेयोग्य) नहीं हैं, तो इनके द्वारा उपासना वा भक्ति-विधि को 'राजगुह्य' कैसे माना जाय? तो उत्तर में निवेदन है कि क्या जन्मान्ध को सूर्य वा कोई अन्य रूप देखने में आता है? क्या जन्मान्ध का कुछ भी देखना असम्भव नहीं है? परन्तु जो जन्मान्ध

गीता, अध्याय ८, श्लोक १३।

गीता, अध्याय ८, श्लोक ९।

स्थूल सगुण भक्ति+सगुण अणोरणीयाम् (विन्दु) रूप की भक्ति+ॐ (शब्दब्रह्म वा ब्रह्मनाद) रूप निर्गुण निराकार-भक्ति=सर्वांग पूर्ण परमात्म-भक्ति।

नहीं है, उनके लिए संसार के विविध रंग-रूप क्या प्रकट नहीं है? क्या अणुवीक्षण यन्त्र से और युक्ति से वायु में भँसते हुए अनेक त्रसरेणु और कीटाणु नहीं देखे जाते हैं? देखने और सुनने की युक्तियाँ भक्तों को भेदी (युक्ति जाननेवाले) गुरु-द्वारा ज्ञात होती हैं, जिनके द्वारा अभ्यास करके वे विन्दु और नाद को सुखसाध्य रीति से प्रकट पाते हैं; परन्तु जिनको इसका गुरु नहीं, जिनको गुरु की आवश्यकता ही नहीं जानने में आवे और जो गुरु में श्रद्धा-भक्ति रखनी पाप, अयोग्यता, अपना अपमान और मूढ़ता जाने वा गुरु में श्रद्धाभक्ति रखनेवाले होते हुए भी जिनकी बुद्धि केवल स्थूल और बाह्य भक्ति-विधि की टेक में ही जकड़कर अड़ी हुई रहती है, ऐसे लोग 'राजगुह्य' नाम की भक्ति को जैसा कुछ समझें, उनके लिए वही ठीक है।

मैं अत्यन्त दृढ़तापूर्वक कहता हूँ कि 'राजगुह्य' नाम की भक्ति ही असली राजयोग है। यदि गीता से कर्मयोग को निकाल दिया जाय तो गीता के सार रहस्य-रूप प्राण ही निकल जाते हैं। इस 'राजगुह्य' नाम की भक्ति के साधक को कर्मयोग का साधन सुगमता से होता जाएगा। कर्मयोगी कर्तव्य कर्म में लगा रहता हुआ पहले स्थूल-सगुण मन में बनाए रखकर कर्म कर सकेगा। बाद में सूक्ष्म-सगुण के दर्शन हो जाने पर उसे ही मन से पकड़े हुए रहकर कर्म करेगा और अन्त में वह ॐ (ब्रह्मनाद) को प्राप्त करने पर अपने को उससे ही पकड़ा हुआ पावेगा। उसको सहज समाधि की स्थिति प्राप्त हो जाएगी। वह सारे कर्तव्यों को करता हुआ जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति; तीनों अवस्थाओं में उस अनुपम परमात्मा से कभी नहीं बिछुड़ेगा।

शब्द निरन्तर से मन लागा, मलिन वासना भागी।
ऊठत बैठत कबहुँ ना छूटै, ऐसी ताड़ी लागी
(कबीर साहब)

सोवत-जागत ऊठत बैठत, टुक विहीन नहिं तारा।
झिन-झिन जंतर निसि दिन बाजै, जम जालिम पचिहारा।
(दरिया साहब, बिहारी)

॥ नवम अध्याय समाप्त ॥

अध्याय १०

अथ विभूतियोग

इस अध्याय का विषय 'विभूतियोग' है। इसमें परमात्मा की विभूतियों का वर्णन किया गया है।

विभूति का अर्थ अलौकिक शक्ति है। इसकी अष्ट सिद्धियाँ–[(१) अणिमा (अदृश्य होने की शक्ति), (२) महिमा (अपने को बहुत बड़ा लेने की शक्ति), (३) गरिमा (अपने को जितना भारी या वजनदार बनाना चाहें, उतना भारी बनाने की शक्ति), (४) लघिमा (बहुत छोटा और बहुत हल्का बन जाने की शक्ति), (५) प्राप्ति (सभी इच्छाओं को पूर्ण कर लेने की शक्ति), (६) प्राकाम्य (स्वेच्छानुसार प्रचुरता-लाभ की शक्ति), (७) ईशित्व (आधिपत्य प्राप्त कर लेने की शक्ति) और (८) वशित्व (अपने वश में कर लेने की शक्ति)] योगाभ्यास में प्राप्त होती हैं। परन्तु–

रिद्धि सिद्धि प्रेरइ बहु भाई। बुद्धिहिं लोभ दिखावहिं आई।
होइ बुद्धि जौं परम सयानी। तिन्ह तन चितब न अनहित जानी।।
(तुलसीकृत रामायण),

ऋद्धि-सिद्धि की प्रेरणा से बुद्धि के सामने अनेक प्रलोभन आते रहते है; परन्तु परम सयानी बुद्धि वही है, जो इन्हें अहितकर समझते हुए इनकी ओर जरा भी नजर उठाकर देखे तक नहीं।

ये मायिक सिद्धियाँ अवतारी पुरुषों में स्वाभाविक होती हैं। अध्याय ७, ८ और ९ में परमात्मा और उनकी भक्ति की महिमा बतलायी गई है। इसमें उसी प्रकार सब बतलाकर यह

कहा गया है कि जो परमात्मा को अजन्मा और अनादि रूप में जानता है, वह सब पापों से छूट जाता है।

बुद्धि, ज्ञान, अमूढ़ता, क्षमा, सत्य, इन्द्रिय-निग्रह, शान्ति, सुख, दुःख, जन्म, मृत्यु, भय, अभय, अहिंसा, समता, सन्तोष, तप, दान, यश, अपयश आदि भाव, जो प्राणियों में उत्पन्न होते रहते हैं, वे सब-के-सब परमात्मा से उत्पन्न होते हैं। सर्व चराचर में जो विशेष प्रभाववाले हैं, उन सबके सहित सारी सृष्टि का सृजन परमात्मा ने ही किया है। परमात्मा परब्रह्म, परधाम, परम पवित्र, अविनाशी, दिव्य पुरुष और आदिदेव हैं। वे स्वयं अपने को अपने से पहचानते हैं। परमात्मा की विभूतियों का सम्पूर्णतः वर्णन होना असम्भव है। उनका स्वल्पातिस्वल्प वर्णन इस प्रकार है कि प्राणियों की आत्मा, सब जीवों का आदि, मध्य और अन्त, ज्योतियों में सूर्य, रुद्रों में शंकर, विद्याओं में अध्यात्म-विद्या, वृष्णिकुल में वासुदेव और ज्ञानवान का ज्ञान इत्यादि जो कुछ भी विभूतिवान, लक्ष्मीवान या प्रभावशाली हैं, उनकी उत्पत्ति परमात्मा के तेजांश से ही समझनी चाहिए। परमात्मा की विभूतियाँ असंख्य हैं। उनके सम्पूर्ण विस्तार का वर्णन किया ही नहीं जा सकता है। वह अपने एक अंश-मात्र से इस सम्पूर्ण जगत को धारण करके विद्यमान हैं। भगवान श्रीकृष्ण के शुभ कथन का साररूप से यह आशय लिखा गया है।

इससे जानना चाहिए कि वृष्णिकुल में उत्पन्न नरतन-धारी तो वही थे। अपने को परमात्मभाव में जानते हुए अपने परम तेजस्वी नर-शरीर में अर्थात् साकार स्थूल-सगुण रूप में अपने ही को उन्होंने अपनी 'विभूति' बतलाया है। और अपने मंगलमय मानव-रूप को भी रखा है। इस परमात्मांश रूप को, सब प्राणियों के अन्दर की आत्मा को और भगवान श्रीकृष्ण ने

परमात्म-भाव में अपने को, गीता के बहुत स्थानों में तथा उसके इस अध्याय में भी अज-अविनाशी कहा है, सो सर्वथा उचित ही है। सारे जगत को केवल एक ही अंश से धारण (वा भरपूर) करना बताकर परमात्म-स्वरूप की अनन्तता व्यक्त की गई है। विश्वरूप में वा देवरूप में वा अणु से भी अणु रूप में अनन्तस्वरूपी परमात्मा का सम्पूर्णतः अँटना वा समाकर रहना असम्भव है। इसीलिए वृष्णिकुल में जन्मधारी वासुदेवरूप को भी उपर्युक्त एक अंश के अन्दर ही गीता में बताया गया है। यदि कोई कहे कि वृष्णिकुल में तो हलधर श्रीबलराम भगवान भी वासुदेव थे, तो गीता में यह व्यक्त नहीं किया गया है। विशेष तेजवानों को ही परमात्मा की विभूतियों में गिनाया गया है। श्रीबलभद्र और श्रीकृष्ण में विशेष तेजवान तो श्रीकृष्ण ही थे। इसी से महातेजस्वी श्रीकृष्ण वासुदेव को परमात्मा के उपर्युक्त एक अंश में ही जानना अनुचित नहीं है। और महाभारत के स्वर्गारोहण पर्व, अध्याय ५, श्लोक २४ में लिखा गया है कि–

यः स नारायणो नाम देवदेवः सनातनः।
तस्यांशो वासुदेवस्तु कर्मणाऽन्ते विवेश ह॥

अर्थ–जो देवताओं के भी देवता-सनातन नारायण हैं, उनके अंशरूप वासुदेवजी कर्म के अन्त होने पर उसी में प्रविष्ट हो गये।

॥ दशम अध्याय समाप्त ॥

अध्याय ११

अथ विश्वरूप-दर्शनयोग

इस अध्याय का विषय 'विश्वरूप-दर्शनयोग' है।

विश्वरूप का दर्शन पाने की प्रार्थना पांडव अर्जुन ने भगवान श्रीकृष्ण से की थी। उस विश्वरूप का दर्शन करनेयोग्य दिव्य दृष्टि अपने योगबल से अर्जुन को देकर तथा अपनी महिमा-विभूति को धारण कर, भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को अभिलषित रूप का दर्शन दिया। वह रूप आश्चर्यमय था। अत्यन्त विशाल था, जिससे उसका ओर-छोर जाना नहीं जाता था। उसे अनन्त और सर्वव्यापी देव कहकर जनाया गया है। वह बड़ा प्रकाशमय था। हजारों सूर्य का एक साथ प्रकट प्रकाशपुंज भी उस महान प्रकाशमय तेज-सदृश कदाचित ही हो। देवादि सर्व प्राणी उस महान रूप में दिखाई पड़ते थे। उस रूप में हाथ, पैर, उदर, मुख और नेत्रादि सभी अवयव अनेकानेक दरसते थे। वह रूप मुकुटधारी, गदाधारी और चक्रधारी था। वह रूप इतना महाविकराल था कि उसका दर्शन करके अर्जुन बहुत विस्मित, भयभीत और व्याकुल था। उस रूप के मुखों में बड़े-बड़े दाँत थे। विकराल दाढ़वाले भयानक मुखों में कौरव-पाण्डव के वीरगण उसी तरह प्रवेश करते देखे जाते थे, जिस तरह दीपक-टेम में फतिंगे वेग से जा-जाकर पड़ते हैं और जलकर विनाश को प्राप्त होते हैं। उन वीरों में से कितनों ही के सिर चूर होकर उस विश्वरूप के दाँतों के बीच में लगे हुए देखने में आते थे। ऐसा

परमात्म-स्वरूप निर्मायिक है, त्रयगुणमयी प्रकृति से निर्मित नहीं है। अतः उसको 'विकराल' नहीं कह सकते। उसका दर्शन शरीरयुक्त रहने से नहीं होता हैं, केवल आत्मा को ही होता है। परमात्मदर्शी आत्मा को उस दर्शन से वैसा डर नहीं होता, जैसा कि अर्जुन को विराट रूप-दर्शन से हुआ था। अतः विराट रूप का दर्शन मायिक रूप का दर्शन है।

जान पड़ता था कि वह विश्वरूप सब लोगों को सब ओर से निगलकर अपने प्रज्वलित और भयानक मुख से उनका भक्षण कर रहा हो। यह भगवान श्रीकृष्ण का सर्वनाशक एवं बढ़ा हुआ कालरूप था।

आश्चर्यमय अति भयंकर काल-सदृश विश्वरूप भगवान ने अर्जुन को कहा–'प्रत्येक सेना में जो ये सब योद्धा आए हुए हैं, उनमें से तेरे न लड़ने से भी कोई बचनेवाला नहीं है। इसलिए तू उठ खड़ा हो; कीर्ति प्राप्त कर और शत्रुओं को जीतकर राज्य भोग। इन्हें मैंने पहले ही मार रखा है; तू केवल निमित्त-मात्र बन। तू मत डर; युद्ध कर, शत्रुओं को तू रण में जीतने को है।' अर्जुन ने उन भगवान को नमस्कार कर उनकी बहुत-सी स्तुतियाँ करके पुनः विशेष निवेदन किया–'आप अक्षर, सत्-असत्, सत्-असत् से भी परे, आदिदेव, पुराण-पुरुष, जगत के पिता और गुरु हैं। आप परम धाम हैं, आपको आगे-पीछे तथा सब ओर से बारम्बार साष्टांग प्रणाम करता हूँ। आपके इस उग्र रूप के दर्शन से मैं भयभीत और व्याकुल हूँ। मुझको क्षमा कीजिए और अपने पहले के चतुर्भुजी सौम्य रूप का ही पुनः दर्शन दीजिए। अर्जुन की अनुनय-विनययुक्त स्तुतियों को सुनकर विराट रूप भगवान ने कहा–'इस रूप का दर्शन तुझको केवल अनन्य भक्त जानकर दिया है। यह दर्शन तेरे अतिरिक्त और किसी को पहले नहीं हुआ है। यह वेदाभ्यास, यज्ञ, शास्त्रों के अध्ययन तथा दान से किसी को नहीं मिल सकता है। तू घबड़ा मत।' वासुदेव ने ऐसा कह अपना पूर्व परिचित रूप अर्जुन को फिर दिखाया और कहा–'हे पाण्डव! जो सब कर्म मुझे समर्पित करता है, मुझमें परायण रहता है, मेरे भक्त बनता है, आसक्ति का त्याग करता है और प्राणिमात्र से द्वेष-रहित होकर रहता है, वह मुझे पाता है।

विचारना चाहिए कि विश्वरूप आदि-अन्त-रहित कभी नहीं हो सकता; क्योंकि विश्व की व्यापकता तक ही होने के कारण वह विश्वरूप कहलाता है। विश्व वा संसार आदि-अन्त-सहित माननेयोग्य है। और अवयवयुक्त रूप में अवयवों के भिन्न-भिन्न होने के ज्ञान के लिए अवश्य ही कुछ-न-कुछ शून्य चाहिए। यह शून्य तथा अलग से खड़े होकर अर्जुन ने विश्वरूप का दर्शन कर जो स्तुति और निवेदन किया था, इसमें अर्जुन और विराट रूप भगवान के बीच का शून्य और जिधर-जिधर से योद्धा लोग उन भगवान के विकराल मुख में घुसते और मर-मरकर गिरते थे, उधर-उधर के रिक्त स्थान का शून्य, ये सब शून्य परमात्मा के आदि-अन्त-रहित वा असीम स्वरूप को नहीं दरसाते हैं। अतएव विराट रूप भगवान के इस दर्शन को परमात्म-स्वरूप का दर्शन कैसे माना जाय?

अध्याय ९ में दरसा आया हूँ कि यह विश्वरूप भी भगवान की माया ही था। अर्जुन को भगवान से दी गई दिव्य दृष्टि परमात्म-दर्शन की आत्मरूप-दृष्टि नहीं थी, दिव्य माया के दर्शन करने की ही दृष्टि थी। न अर्जुन उस समय तुरीयावस्था में रहते हुए समाधि में थे और न संजय ने ही समाधि में रहकर विराट भगवान और अर्जुन को उस समय देखा था और न उनके कथोपकथन को सूना था। अर्जुन और संजय, दोनों ही उस समय जाग्रतावस्था में थे। परमात्म-दर्शन जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं में नहीं, बल्कि तुरीयावस्था के आरम्भ में भी नहीं; वरन् अन्त में होता है। परमात्मा के विश्वरूप को उनका मायिक रूप न मानकर उसी को उनका क्षराक्षर-पर, परमाक्षर-पुरुषोत्तम स्वरूप मान लेना यथार्थ और विचारयुक्त नहीं है।

॥ एकादश अध्याय समाप्त ॥

अध्याय १२
अथ भक्तियोग

इस अध्याय का विषय भक्तियोग है।

इसमें भक्ति-विषय का वर्णन किया गया है। इसके आरंभ में ही अर्जुन ने पूछा है कि व्यक्त और अव्यक्त रूप के उपासकों में कौन योगी श्रेष्ठ माननेयोग्य है? उत्तर में कहा गया है कि व्यक्त उपासक श्रेष्ठ है, और सर्वव्यापी अव्यक्त के उपासक भी परमात्मा को ही पाते हैं, परन्तु इस उपासक को कष्ट अधिक होता है; क्योंकि अव्यक्त गति को देहधारी कष्ट से ही पा सकता है।

अब विचारणीय है कि राजा मनु और उसकी रानी शतरूपा, प्रह्लाद और ध्रुव, ये सब व्यक्तोपासक ही थे और इनको भी तो व्यक्त रूप भगवान का दर्शन बड़े-बड़े कष्टों को सहन करके ही प्राप्त हुआ था। मनु-शतरूपा ने व्यक्त रूप के दर्शन के लिए कठोर तप करने का जो महान कष्ठ उठाया, सो विदित ही है। वांछित व्यक्त दर्शन के बाद स्वर्ग-सुख भोगकर, नरलोक में जन्म पाकर राजा दशरथ और रानी कौशल्या बनकर भी उन्होंने कष्टों का भोग भोगा, यह भी अविदित नहीं है। प्रह्लादजी व्यक्त उपासना में लगे रहे। इसी कारण उन्होंने अपने पिता से अनेकानेक घोर कष्ट पाए, यह भी लोग जानते ही हैं। उन सब कष्टों को पाये बिना प्रह्लाद ने नरसिंह भगवान का दर्शन नहीं पाया। और भक्त ध्रुव को भी घोर जंगल में एकान्त रहकर तप तथा प्राणायाम-अभ्यास करने का कष्ट उठाना पड़ा। श्रीमद्भागवत में यह कथा है ही।

फिर यह बात कि व्यक्तोपासना में कष्ट नहीं होता है वा इसमें भी कष्ट होता है—इसे विचारवान समझ लें। केवल रोचकता के लिए ही व्यक्तोपासना के पक्ष में यह कहा जाता है कि यह कष्टसाध्य नहीं है। राजा मनु ने तो भगवान श्रीकृष्ण द्वारा सूर्य को दिया हुआ श्रीमद्भागवद्गीता का ज्ञान सूर्य से पाया था। गीता-ज्ञान के इस इतिहास से तो यह मानना पड़ता है कि व्यक्तोपासना में मनु-शतरूपा वाला साधन अमित कष्टमय कठोर है।*

गीता के इस अध्याय में व्यक्तोपासना के लिए कहा गया कि व्यक्त रूप भगवान में परायण अर्थात् प्रवृत्त वा लगा रहना, सब कुछ उन्हें समर्पण करना, एक निष्ठा से उनके रूप का ध्यान करना और मन-बुद्धि को उनमें लगाये रहना—ये सब साधन हैं; परन्तु अव्यक्तोपासना के क्या-क्या साधन हैं, इसका वर्णन कुछ भी नहीं है। यदि कहा जाय कि पिछले अध्यायों में जो संख्यायोग, प्राणायामयोग और ध्यानयोग बतलाए गए हैं—वे सब अव्यक्त-उपासना के साधन हैं, तो मानना पड़ता है कि ये साधन बतला दिये गए हैं। पिछले अध्यायों में तो इस अध्याय में बतलाए गए अव्यक्तोपासना के भी सब साधन कहे ही गए हैं; इस अध्याय में वे मात्र समासरूप में दुहराए गए हैं। अव्यक्तोपासना के साधनों का वर्णन पिछले अध्यायों में हुआ है, ऐसा स्पष्ट रूप से समझ में नहीं आता। हाँ, अव्यक्त स्वरूप का वर्णन स्पष्ट रूप से अवश्य हुआ है।

---

*मनु-शतरूपा के अमित कष्टमय कठोर साधना का वर्णन रामचरितमानस, बालकाण्ड के उस स्थान पर पढ़िए, जहाँ भगवान के अवतारों के कारण बतलाए गए हैं।

प्राणायाम और ध्यानयोग अव्यक्तोपासना हैं, इसका बोध कैसे हो? पूरक कुम्भक और रेचक-द्वारा प्राणवायु की कसरत (प्राणायाम) में प्राणवायु के व्यक्त होने के कारण और ध्यान-योग में ध्यान का लक्ष्य भी व्यक्त होने के कारण व्यक्तोपासना ही तो है। और इन दोनों साधनों में जप-विधि भी तो है। ये व्यक्तोपासनाएँ नहीं कहलाकर अव्यक्तोपासनाएँ कहलावें, इसका कोई कारण नहीं है। कहते हैं कि 'सांख्य और आध्यात्मिक विचार से सत्य, असत्य, आत्मा, ब्रह्म और माया के पूर्ण निर्णयात्मक ज्ञान में मन और बुद्धि को लगाकर आत्म-तत्त्व में विचार-द्वारा संलग्न, निरत या परायण रहने को अव्यक्तोपासना कहते हैं; क्योंकि आत्मा अव्यक्त है।' बुद्धि-विचार द्वारा अव्यक्त तत्त्व की स्थिति का निर्णय कर सकना तो सम्भव है; परन्तु बुद्धि से उसकी पहचान नहीं हो सकती है; क्योंकि गीता, उपनिषद् भारतीय संतवाणी और सब आध्यात्मिक ग्रंथ इस बात को दृढ़ता से बतलाते हैं कि आत्म-ब्रह्मतत्व और परमात्म-स्वरूप मन और बुद्धि से परे हैं। तब उपर्युक्त अव्यक्तोपासना जिनकी सीमा बुद्धि तक ही है—अत्यंत अपूर्ण है, ऐसा कहना अयुक्त नहीं है। यदि इसको अयुक्त और अपूर्ण नहीं मानकर कोई इसी उपासना में निरत होता है, तो इसके लिए विशेष विद्योपार्जन और केवल विचार-द्वारा मन और बुद्धि पर पूर्ण नियंत्रण रखने का घोर प्रयास अवश्य ही कष्टमय तपश्चर्या है। इसीलिए अव्यक्त उपासना को अधिक कष्टसाध्य कहा जाय, तो ठीक ही है; परन्तु इतना होने पर भी इस तरह की अव्यक्तोपासना को अधिक कष्टसाध्य कहा गया है। इससे यह जानना युक्तियुक्त है कि गीता कहती है कि व्यक्तोपासना में जितना कष्ट है, उससे अधिक कष्ट अव्यक्तोपासना में है। यह नहीं कि व्यक्तोपासना में

कुछ कष्ट है ही नहीं। गीता केवल व्यक्त भाव* के ज्ञानवालों को 'मूढ़' की संज्ञा देती है, इसलिए इस संज्ञा से छुटकारा तभी मिल सकता है, जब परमात्मा के अव्यक्त भाव का केवल बौद्धिक ज्ञान ही नहीं, बल्कि समाधि में प्राप्त इसका अनुभव-सिद्ध पूर्ण प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त किया जाय।

गीता में परमात्म-स्वरूप को अज, अविनाशी, अनंत और अव्यक्त स्थान-स्थान पर बारम्बार कहा गया है; परन्तु परमात्मा के स्थूल-व्यक्त विभूतिरूप सगुण साकार से उपासना आरम्भ करने के प्रेममय भाव की श्रेष्ठता गीताग्रंथ में विशेष रूप से कही गई है। इसके अतिरिक्त इसमें उस परमात्मा के अणु-से-अणु (विन्दु) रूप की तथा ॐकारूप शब्दब्रह्म की उपासनाएँ भी पिछले अध्यायों में कही गई हैं। जैसे नवजात अज्ञ शिशु को रूप और शब्द को देखने और सुनने की शक्ति रहने पर भी उनकी कोई पहचान उसे नहीं होती है, वे उसके लिए अव्यक्त-से ही रहते हैं, उसी भाँति जो भक्ति की विधि की जानकारी और उसके साधन में निरा शिशु है, उसके लिए सूक्ष्म विन्दु और नाद अव्यक्त ही रहते हैं; परन्तु साधन-विधि के जानकार साधनशील के लिए वे व्यक्त रहते हैं। स्थूल और सगुण-साकार रूप तो व्यक्त है ही; विन्दु सूक्ष्म सगुण साकार रूप है और अन्तर्नाद अरूप सगुण* है और अरूप निर्गुण भी।

---

*मोक्षकारणसामग्रयां भक्तिरेव गरीययी।
स्वस्वरूपानुसन्धानं भक्तिरित्यभिवीयते।।

(श्रीशंकराचार्यजी महाराज कृत 'विवेक-चूड़मणि')

अर्थ—मुक्ति की कारणरूप सामग्री में भक्ति ही सबसे बढ़कर है और अपने वास्तविक स्वरूप का अनुसंधान करना ही 'भक्ति' कहलाती है। आत्मस्वरूप ही वास्तविक स्वरूप है और यह अव्यक्त है।

*सगुण और निर्गुण नादों के बीच के हेतु 'सत्संग-योग, भाग-४' पढ़िये।

साधनशील को एक के बाद दूसरा और दूसरे के बाद तीसरा क्रमशः व्यक्त होता जाता है। ऐसा साधक एक व्यक्त के बाद दूसरे व्यक्त को पाता हुआ, व्यक्त-ही-व्यक्त की उपासना करता हुआ माया के स्थूल, सूक्ष्म और कारण आवरणों को टपता हुआ शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरण से छूटकर अंत में अपने को कैवल्य दशा में लाकर निज से-चेतन आत्मा से या अपने तईं से परमात्मा पुरुषोत्तम के सत्-असत्, क्षर-अक्षर, सगुण और निर्गुण से परे, मायातीत अव्यक्त, निराकार स्वरूप को प्राप्त कर भव-सिन्धु को तर, नित्यानंद को प्राप्त कर लेता है। यह है भक्ति-योग का सम्पूर्ण रहस्य और उसका पूरा रूप।

इस संबंध में महात्मा गाँधी और विनोबा भावे के विचार क्रमशः ये हैं-'साकार के उस पार निराकार अचिन्त्यस्वरूप है।' और 'सगुण पहले तथा उसके बाद निर्गुण की सीढ़ी आनी ही चाहिए।'

इन दोनों महात्माओं के कथानानुकूल पदार्थ की प्रत्यक्ष प्राप्ति राजविद्या तथा राजगुह्य वा अव्यक्तोपासना से कम कष्टसाध्य भक्तियोग के द्वारा कैसे हो जाती है और व्यक्तोपासना की युक्ति द्वारा पहले सगुण, फिर निर्गुण, तत्पश्चात् भगवद्गीता के अचिन्तय, क्षराक्षर-पर (सगुण-निर्गुण के परे) पुरुषोत्तम के पाने की राजविद्या और राजगुह्य का पूरा-पूरा रूप क्या है, कैसा है-यह बुद्धिमान ऊपर किए हुए विवेचन से समझ सकते हैं।

इस अध्याय में स्थूल-सगुण-साकार-व्यक्त रूप का ध्यान करने को कहा गया है। ध्यानयोग कैसे किया जाय, यह तो छठे, अध्याय में लिखित है ही। इस ध्यान के समय 'हाथ बेकार, पाँव बेकार, आँखें बेकार; सब इन्द्रियाँ कर्मशून्य ही रहती हैं।' पुनः इसमें 'जीभ बंद, कान बंद, हाथ-पैर बंद' उसी तरह,

जिस तरह से निर्गुण ध्यान में। यह कहा जाता है कि 'साधक से ये सब बन्दी-प्रकार की साधनाएँ (अर्थात् सब इन्द्रियों को कर्म-शून्य रखना) नहीं सध सकती हैं। और यह सारा बन्दी-प्रकार देखकर बेचारा साधक घबड़ा जाता है।' फिर यह भी कहा जाता है कि 'सगुण पहले, परन्तु उसके बाद निर्गुण की सीढ़ी आनी ही चाहिए, नहीं तो परिपूर्णता नहीं होगी।' जब भक्ति-योग में परिपूर्णता चाहिए ही और इसके लिए निर्गुण की सीढ़ी पर आना ही है, तो ऊपर-लिखित सब इन्द्रियों को कर्मशून्य करके रखने का अभ्यास और उपर्युक्त सारा बन्दी-प्रकार का अभ्यासारम्भ सगुण-उपासना के द्वारा ही अवश्य करो।

हे साधक! इसमें घबड़ाओ मत। श्रीमद्भगवद्गीता के इस उपदेश को मत भूलो कि भक्त का 'योगक्षेम' स्वयं भगवान करते हैं। साधन में साधक को सहायता देनी और उसके अभ्यास-बल की रक्षा करनी भी योगक्षेम के ही अन्दर है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी अपने 'विनय-पत्रिका' ग्रन्थ में कहा है कि–

जौं तेहि पंथ चलै मन लाई। तौ हरि काहे न होहि। सहाई॥

क्या भक्तियोग के किसी भी साधक को चाहिए कि भगवान की कृपा-भरोसे का विश्वास नहीं करे? ऐसा कदापि नहीं चाहिए। स्थूल सगुन का ध्यान भगवद्गीता की बतायी रीति से, एकान्त में स्थिर एवं तनकर अर्थात् शरीर, मस्तक और ग्रीवा को सीधा रखते हुए बैठकर करो तो मन के चक्र का घूमना भी अवश्य ही बन्द होगा। इसमें मन को ऐसा अन्तर्मुख और संलग्न किया जा सकता है, जैसा सुतीक्ष्ण मुनि स्थूल-सगुण-साकार का ध्यान करते हुए कर सके थे। वनवास-काल में श्रीराम उस वन में पहुँचे, जहाँ सुतीक्ष्ण मुनि का आश्रम था। उन्होंने देखा कि

मुनि ध्यान में तल्लीन हैं। स्वयं श्रीराम ने उनको बाहर से जगाना चाहा, परन्तु जब उनका ध्यान नहीं टूटा, तब श्रीराम ने अपने योगबल से उनके अभ्यन्तर के उस ध्येय रूप को, जिसमें कि वे उस समय ध्यानावस्थित थे, बदल दिया। तब ते जगे। (तुलसीकृत रामायण)। इस कथा से स्पष्ट है कि सगुण साकार के ध्यान में भी साधक बाहर से सब इन्द्रियों को कर्मशून्य और जीभ, कान आदि का सारा बन्दी-प्रकार का साधन करता है। और केवल निगुर्ण में ही नहीं, सगुण उपासना में भी प्रथम से ही सब इन्द्रियों को कर्मशून्य करने का तथा उपर्युक्त सारा बन्दी-प्रकार का साध न अवश्य करना चाहिए। नहीं तो निर्गुण की सीढ़ी पर पहुँच कैसे होगी और कैसे परिपूर्णता आएगी?

भक्त को चाहिए कि भगवन्त में मन को लगाए रहे। यदि वह योगसाधन के बिना ही इसका अभ्यास करने लगे और न कर सके, तो वह योगाभ्यास-साधन से उन्हें पाने का यत्न करे। यदि वह इसमें भी नहीं सके, तो अपना प्रत्येक कर्म भगवान को समर्पित करे। यदि इसमें भी वह असमर्थ हो, तो यत्न करके उसे सब कर्मों का फल त्यागना चाहिए। सब कर्म भगवान को चढ़ा देना भी कर्म और उसके फल का त्याग ही तो है। कर्मफल-त्याग क्या उपर्युक्त सब कामों से आसान है? इसमें भी मन पर पूरा नियन्त्रण रखना पड़ेगा, नहीं तो सन्त कबीर साहब की इस उक्ति के अनुकूल फल पाना होगा-

तन मन दिया तो भल किया, सिर का जासी भार।
कबहूँ कहै कि मैं दिया, धनी सहैगा मार॥

मन पर पूरा नियंत्रण रखने की शक्ति योगाभ्यास के बिना असम्भव है। भगवन्त में सदा मन लगाए रहना भी इसके बिना नहीं हो सकेगा। देखना चाहिए कि गीता में किस योगाभ्यास

की ओर अधिक प्रेरण है—प्राणायाम-योग की ओर वा ध्यान-योग की ओर? कैसे स्थान पर, क्या-क्या बिछाकर, शरीर को किस तरह रखकर और किस विधि से प्राणायाम करना चाहिए—ये बातें प्राणायाम के वर्णन में उतनी विशेष रूप से नहीं है, जितनी कि ध्यानयोग में हैं। गीता में प्राणायाम-योग नामक एक विशेष अध्याय भी नहीं है, परन्तु 'ध्यानयोग' नामक एक विशेष अध्याय तो गीता में है ही। अतएव यह मानने में संशय नहीं रह जाता कि गीता ध्यान-योगाभ्यास करने की ही अधिक प्रेरणा देती है। इस सम्बन्ध में और एक बात जाननी चाहिए कि गीता में एक अध्याय 'राजविद्या-राजगुह्य' का भी है। इस अध्याय के अनुकूल तो निरापद, सरल, कुशल-साध्य और रहस्यमय साधन होना चाहिए। प्राणायाम ऐसा नहीं माना जा सकता है। शाण्डिल्योपनिषद् में है—

यथा सिंहो गजो व्याघ्रो भवेद्वश्यः शनैः शनैः।
तथैव सेवितो वायुरन्यथा हन्ति साधकम्॥

अर्थ—जैसे सिंह, हाथी और बाघ धीरे-धीरे काबू में आते हैं, वैसे प्राणायाम (अर्थात् वायु का अभ्यास कर वश में करना) भी किया जाता है। प्रकारान्तर होने से वह अभ्यासी को मार डालता है।

ध्यानयोग के विषय में ऐसी आपदा की बात नहीं कही गई है। गीता में 'भक्तियोग' बहुत ही मधुर साधन है, परन्तु ध्यानयोग को इससे अलग रखा जाय, तो इसका सार ही निकल जाएगा। भक्ति में प्रेम की प्रधानता है। प्रेम में ध्यान अनिवार्य रूप से रहता है। ध्यानयोगवाले अध्याय में ध्यानयोग की विधि से ईश्वर में परायण रहते हुए, साधक को ध्यानाभ्यास करने के लिए बैठने की आज्ञा है। इसमें और विशेष बात यह भी जाननी

चाहिए कि ध्यान-योगयुक्त भक्तियोग में यदि केवल स्थूल-सगुण-साकार ईश्वर-रूप को ही ग्रहण कर रखने का आग्रह रहे-इसके अतिरिक्त उसके अणोरणीयाम् रूप और शब्दब्रह्म-रूप को ग्रहण करने का आग्रह नहीं हो तथा ध्यानयोग में इनके ग्रहण की युक्ति या भेद जानने और उसके द्वारा अभ्यास करने की अवहेलना हो, तो ऐसा भक्तियोग 'राजविद्या और राजगुह्य' (गीता के अत्यन्त आकर्षक विषय) से हीन रहकर, उसके साधन-फल को न पाकर, परमात्म-स्वरूप को नहीं प्राप्त कर, भक्ति की चरम सीमा तक नहीं पहुँच, परम मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकेगा। इसलिए भी गीता की विशेष रुचि ध्यान-योगाभ्यास कराने की ही है। राजविद्या और राजगुह्य ही तो गीता के परम आकर्षक विषय हैं-इनके अनुकूल ध्यानयोग ही है, प्राणायाम नहीं।

परन्तु गीता प्राणायाम करने से मन भी नहीं करती है। जिससे यह अभ्यास हो सके, वह करे; परन्तु गीता ध्यानयोगाभ्यास ही विशेष रूप से कराना चाहती है। ध्यान-योगाभ्यास से जब मन पर पूर्ण नियन्त्रण रखने की शक्ति होगी, तब भगवान में मन लगाए रखने, उनको प्रत्येक कर्म अर्पण करने और कर्मफल-त्याग करने इत्यादि के (जिस-जिस प्रकार अपने मन को कोई रखना चाहेगा, उस-उस प्रकार के) साधन में उसे वह दृढ़ता से रख सकेगा। भक्तियोग में जिस-जिस प्रकार के कामों की विधियाँ गीता में दी गई हैं, उनमें से साधक अपने लिए जिसे चुने, उसमें विचार-द्वारा अपने मन को लगाए रखने का यत्न करे और साथ-ही-साथ नित्य प्रति संध्याओं के समय एकान्त में बैठ-बैठकर भी ईश्वर-प्राप्ति के लिए प्रेम-सहित ध्यान-योगाभ्यास अवश्य करे। गीता का ध्यानयोग ही वह योग है, जिसका अभ्यास नित्य

प्रति संध्याओं के समय अवश्य करना चाहिए। गीता की विशेष रुचि ऐसी ही है।

उपर्युक्त बातें इस अध्याय के श्लोक १२ से ही विदित होती हैं। इसमें कहा गया है कि ज्ञान से ध्यान विशेष है; परन्तु यह नहीं कि ज्ञान से प्राणायाम विशेष है। बारहवें श्लोक में कहा गया है कि अभ्यास से ज्ञान श्रेयस्कर है; ज्ञान से ध्यान विशेष है और ध्यान से कर्म-फल-त्याग विशेष है। त्याग से तुरत ही शान्ति मिल जाती है। किसी विद्या को सीखने की क्रिया को बारंबार करने की आदत लगाने को अभ्यास कहते हैं। ज्ञान, ध्यान और कर्म-फल-त्याग के अतिरिक्त गीता में प्राणायाम आदि और जितने साधन कहे गए हैं, उन सबके अभ्यास का तात्पर्य इस अध्याय के बारहवें श्लोक के 'अभ्यास' शब्द से विदित होता है; क्योंकि ज्ञान, ध्यान और कर्मफल-त्याग; इन तीनों कर्मों को तो इस श्लोक में क्रियात्मक रूप में लाने की विधि-सी जानी जाती है। इनके अभ्यास तो इनके साथ ही रह जाते हैं। तब इनके अतिरिक्त उपर्युक्त और सब अभ्यास ही बच जाते हैं। इसलिए उन बचे हुए प्राणायाम आदि के अभ्यास से ज्ञान श्रेष्ठ है, यह जानने में आता है। और जबकि ज्ञान से ध्यान को विशेष कहा गया है, तब प्राणायाम-योगाभ्यास से ध्यान-योगाभ्यास गीता के अनुकूल विशेष मानने योग्य हो ही जाता है। गीता के भक्ति-योग-अध्याय में ध्यान और कर्मफल-त्याग की बड़ाई की गई है; अतएव गीता के 'भक्ति-योग' में इन तीनों का अभीष्ट स्थान है, ऐसा जानना ही समुचित है। यदि इन तीनों को वा इनमें से किसी एक को 'भक्ति-योग' से हटाया जाए, तो 'भक्ति-योग' स्थितिशून्य हो जाएगा। ज्ञान के बिना ध्यान और ध्यान के बिना ज्ञान अभीष्ट फलप्रद (मोक्ष-फलप्रद) नहीं हो

सकते। दोनो का अभ्यास अनिवार्य रूप से करना ही होगा। इसकी पुष्टि के विषय में योगशिखोपनिषद् तथा योगतत्त्वोपनिषद् के उद्धरणों को पृष्ठ ६ की पादटिप्पणी में पढ़कर जानिए। ध्यानाभ्यास-द्वारा मन पर पूर्णाधिकार प्राप्त किए बिना तथा ध्यानाभ्यास में पूर्णता पाकर ज्ञान में पूर्ण हुए बिना कर्मफल-त्याग में अचूक और दृढ़ भी कोई नहीं बन सकता। इन तीनों का आपस में घनिष्ठ संबंध है। इन तीनों के सहित भक्तियोग के साधन के साथ-साथ कर्मयोग का साधन करता हुआ वह सिद्ध हो जाएगा। जैसे-जैसे प्रेमी भक्त ईश्वर-संबंधी ज्ञान-ध्यान में तथा तत्सम्बन्धी ज्ञान और ध्यानाभ्यास में बढ़ता हुआ जाकर अंत में पूर्ण होगा, वैसे-वैसे वह कर्मफल-त्याग में भूलों को छोड़ता हुआ अंत में कर्मफल-त्याग में पूर्ण होकर, कर्मयोग में सिद्ध होगा। ज्ञान, ध्यान तथा ईश्वर-प्रेम की अवहेलना करके केवल कर्मफल त्यागने का गौरव अनुचित ही नहीं, बल्कि वह 'आप गए और घालहिं आनहिं' के नतीजे पर पहुँचा देगा, यह सुनिश्चित है। ध्यानयोगाभ्यास करने का सिद्धांत और उस अभ्यास की ओर प्रेरणा तथा उसमें मिलनेवाले विघ्नात्मक प्रलोभनों का बचाव पठन-पाठन और मनन द्वारा प्राप्त ज्ञान पर निर्भर है एवं अनुभूतियुक्त ज्ञान में बढ़ाव और उसके अपरोक्ष रूप की पूर्णता, ध्यान-योग में वृद्धि और उसकी परिपूर्णता पर निर्भर है। भगवान बुद्ध की 'धम्मपद' नाम्नी पुस्तिका के 'भिक्खुवग्गो' में है-

नत्थि झानं अपञ्ञस्य पञ्ञा नत्थि अझायतो।
यम्हि झानञ्च पञ्ञा च स वे निब्बाण सन्तिके॥

अर्थ-प्रज्ञाविहीन (पुरुष) को ध्यान नहीं (होता) है, ध्यान (एकाग्रता) न करनेवाले को प्रज्ञा नहीं हो सकती। जिसमें ध्यान और प्रज्ञा (दोनों) हैं, वही निर्वाण के समीप है॥१३॥

अतएव ध्यानयोग गीता का निज, परम प्रिय, अत्यंत उपयोगी और भक्तियोग-साधन का साराधोर है।

अब इस अध्याय में भक्त के लक्षण और आचरणीय गुणों का वर्णन ही बच रहा है। वह यह है कि प्राणिमात्र के प्रति द्वेषहीन होना, सबसे मित्रता, सुख-दुःख में समान रहना, क्षमावान होना, सदा संतोषी रहना, योगी होना, दमशील होना, दृढ़ निश्चयी होना, न आप किसी से उद्वेग पानेवाला, न दूसरा उससे उद्वेग पावे, हर्ष, क्रोध, ईर्ष्या और भय से मुक्त, इच्छा-रहित, पवित्र, दक्ष (अमूढ़ या सुचतुर), तटस्थ वा निरपेक्ष, अचिन्त्य, संकल्पहीन, आशाहीन, शुभाशुभ-त्यागी; शत्रु-मित्र, मानापमान, शीतोष्ण, सुख-दुःख और स्तुति-निंदा में समतावान, स्वल्पभाषी, अनिकेत (अपने रहने के घर में ममत्व नहीं) और स्थिर चित्तवाला होना—भक्तयोगी के ये सब गुण और आचरणीय लक्षण हैं।

॥ द्वादश अध्याय समाप्त ॥

अध्याय १३

अथ क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विभागयोग

इस अध्याय का विषय क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विभागयोग है।

इस अध्याय के आरम्भ में ही कह दिया गया है कि शरीर को 'क्षेत्र' कहते हैं और इसे जो जानता है, उसको तत्वज्ञानी लोग 'क्षेत्रज्ञ' कहते हैं। बारहवें अध्याय में भक्तियोग का वर्णन हो चुका है। अब इस तेरहवें अध्याय में क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का विभाग करके उनके स्वरूपों का पृथक-पृथक वर्णन इसलिए किया गया है कि लोग शरीर (क्षेत्र) और शरीरी (क्षेत्रज्ञ) अर्थात् देह और देही को यथार्थतः भिन्न-भिन्न कर जानें—दोनों को एक ही न समझ बैंठें और न यह समझ कि देही देह ही है और न ऐसी भूल करें कि देह में देह से भिन्न कुछ अन्य पदार्थ (देही या चेतन जीव) है ही नहीं; तथा लोगों की सुनिश्चित रूप से यह भी पूर्णतया विदित हो जाया कि स्वयं परमात्मा की विशेषावतार के शरीर (क्षेत्र) में उस व्यक्त दिव्य श्रीविग्रहरूप से भिन्न, अद्‌भुत और अव्यक्त हैं।

बारहवें अध्याय में भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है कि अव्यक्तोपासक भी मुझे ही (मामेव) पाते हैं। क्या यहाँ 'मुझे ही' (मामेव) कहकर श्रीभगवान अपने व्यक्त नर-शरीर को ही बतलाते हैं? यदि इसका उत्तर 'हाँ' हो, तो अव्यक्तोपासक भी व्यक्त रूप को ही पाते हैं—ऐसा कहा जाएगा। परन्तु यह उत्तर युक्तियुक्त और जँचनेयोग्य नहीं है। भगवान ने गीता में ऐसा कहीं नहीं कहा है कि मैं केवल व्यक्तरूप ही हूँ, अव्यक्त नहीं। बल्कि अध्याय ७ के श्लोक २४ में स्पष्ट रूप से उन्होंने अपने को अव्यक्त ही बतलाया है और केवल व्यक्त ही कहकर

जाननेवालों को 'बुद्धिहीन' कहा है। युक्तिसंगत बात तो यह है कि अव्यक्तोपासक अव्यक्त स्वरूप को ही अन्त में प्राप्त करे। अतएव बारहवें अध्याय में श्लोक ४ के 'मामेव' (मुझे ही) से भगवान ने अपने अव्यक्त स्वरूप को ही व्यक्त किया है, ऐसा जानना चाहिए। अपने इस स्वरूप को भी क्षेत्र से स्पष्टतया भिन्न जानने की आवश्यकता जानकर ही उन्होंने इस अध्याय में क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का विचार कहा है।

यदि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ-विभाग का ज्ञान लोग नहीं जानेंगे, तो केवल व्यक्त क्षेत्र-ज्ञान में पड़े रहेंगे; अव्यक्त स्वरूप को नहीं जानकर अज्ञानता से नहीं छूटेंगे। क्षेत्र-क्षेत्र-विभाग-वर्णन में कहा गया है कि पाँच स्थूल तत्त्व (मिट्टी, जल, अग्नि, वायु और आकाश), पाँच सूक्ष्म तत्त्व (गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द), अहंकार, बुद्धि, प्रकृति, दशेन्द्रियाँ (हाथ, पैर, मुँह, गुदा और लिंग–ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ और आँख, कान, नासिका, जिह्वा और त्वचा–ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ), मन, चैतन्य, संघात (कहे गये का संघरूप), धृति (धारण करने की शक्ति) और इनके विचार इच्छा, द्वेष, सुख और दुःख–इन इकतीस के समूह को संक्षेप में 'क्षेत्र' कहते हैं। इस क्षेत्र के जाननेवाले को 'क्षेत्रज्ञ' कहते हैं। गीता भगवती कहती है कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के ज्ञान को ही 'ज्ञान' कहते हैं।

सब क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ तत्त्व-रूप से परमात्मा ही हैं, यह भगवान श्रीकृष्ण का मत है।

श्रवण, मनन, निदिध्यासन तथा अनुभव से प्राप्त इस ज्ञान की पूर्णता के लिए मानहीनता, पाखण्डहीनता, अहिंसा, क्षमा, सरलता, गुरु-उपासना, पवित्रता, स्थिरता, अपने ऊपर रोक, इन्द्रियों के विषयों से मन का अलगाव, निरहंकारिता,

जन्म, मरण, बुढ़ापा, व्याधि, दुःख और दोषों का सदा स्मरण, पुत्र, स्त्री, गृहादि में मोह तथा ममता का अभाव, प्रिय और अप्रिय में स्थिर समता, अनन्यता से ध्यानयुक्त परमात्मा की एकनिष्ठ भक्ति, एकान्त स्थान का सेवन, जनसमूह में सम्मिलित होने की अरुचि, अध्यात्म-ज्ञान की सत्यता का स्मरण और आत्म-दर्शन—इन सबका सेवन करता हुआ साधक ज्ञान में रहता है। यदि ऐसा नहीं रहता है, तो वह अज्ञान में है। इन सब बातों के सहित भगवान श्रीकृष्ण का यह भी मत है कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के ज्ञान को ही ज्ञान कहते हैं और क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ तत्त्वतः परमात्मा ही हैं। अतएव उपर्युक्त ज्ञानों के अतिरिक्त ज्ञान को अनात्म-ज्ञान कहना अनुचित नहीं है। गीता में यह नहीं कहा गया है कि भगवान श्रीकृष्ण के दिव्य नररूप वा विराट रूप श्रीविग्रहों वा दिव्य क्षेत्रों में और उनमें व्याप्त आत्मा या क्षेत्रज्ञ में भेद नहीं है।

क्षेत्र को व्यक्त कहा जायेगा, परन्तु क्षेत्रज्ञ को व्यक्त नहीं, अव्यक्त कहा जायेगा। सब क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ तत्त्व-रूप से परमात्मा ही हैं, उसे प्रत्यक्ष जाननेवाले मोक्ष पाते हैं। वह अनादि पर-ब्रह्म हैं, उसे न सत् कहा जा सकता है और न असत् ही।

चैतन्य अपरिवर्तनशील, गतिशील और कल्पमय पदार्थ है,अतएव सत् परन्तु मर्यादित या ससीम है। यही जीवरूपा परा प्रकृति है। गीता, अध्याय ७, श्लोक ५ और महाभारत, शान्तिपर्व, उत्तरार्द्ध, अध्याय १०४ में परा प्रकृति को रूपान्तर-दशा से रहित कहा गया है। जीव को जड़ नहीं माना जा सकता। इसको अक्षर पुरूष कहते हैं। अतएव चैतन्य सत्य है। क्षेत्र के ३१ तत्त्वों में एक चेतना अर्थात् चैतन्य भी है। जड़ असत् है। यही अपरा प्रकृति, क्षर पुरुष है। परमात्मा अक्षर अर्थात् सत् और क्षर अर्थात् असत्; दोनों से उत्तम और परे हैं। इसलिए उस पुरुषोत्तम परमात्मा को न सत् कह सकते हैं ओर न असत्। वह अनादि, असीम अर्थात् अमर्यादित है, अतएव ध्रुव और अकम्प है। असीम के बाहर अवकाश नहीं।

परब्रह्म की सब ओर सब इन्द्रियाँ हैं; परन्तु वे स्वरूपतः इन्द्रियों से रहित, अलिप्त और इन्द्रियातीत हैं। तात्पर्य यह कि परब्रह्म में सब ओर के सब प्रकार के ज्ञान सदा विद्यमान रहते हैं, वे सर्वव्यापक हैं। वे सबके बाहर और सबके अन्दर सदा विद्यमान रहते हैं। त्रयगुणों में रहते हुए अर्थात् उनका भोक्ता होते हुए भी वे उन गुणों से रहित हैं। अर्थात् निर्गुण हैं। वे ध्रुव वा स्थित होते हुए भी गतिमान हैं। (परा प्रकृति में व्यापक रहने के कारण ही गतिमान-सा दीखता है और परा प्रकृति में व्याप्त अर्थात् उस प्रकृति के सहित रहने के कारण उसे राम या सबमें रमण करनेवाला भी कहते हैं, यही सच्चिदानन्द है।) यह ब्रह्म सबसे दूर और सबसे अधिक निकट भी है।

इस सम्बन्ध में कबीर साहब के ये शब्द हैं—

श्रूप अखंडित व्यापी चैतन्यश्चैतन्य।
ऊँचे नीचे आगे पीछे दाहिन बायँ अनन्य॥
बड़ा तें बड़ा छोट तें छोटा मींहीं तें सब लेखा।
सबके मध्य निरन्तर साईं दृष्टि दृष्टि सों देखा॥
'है सब में सब ही तें न्यारा............।
सब के निकट दूर सब ही तें.........॥'

जिसके बाहर अवकाश नहीं, उसमे कम्प अथवा गति नहीं। असीम एक ही हो सकता है। चैतन्य स्वाभाविक ही गतिशील ओर कम्नमय है। यह ससीम है।

अपरा—जड़ प्रकृति (रज, सत् और तम) त्रयगुणमयी है। परा प्रकृति त्रयगुण-रहित है। परब्रह्म पुरुषोत्तम को दोनों प्रकृतियों से परे वा उत्तम होने के कारण निर्गुण और सगुण दोनों के परे भी कहा जाता है।

उस सच्चिदानन्द के यर्थाथ स्वरूप को बालगंगाधर तिलकजी ने इस तरह समझाया है—प्रकृति और पुरुष के परे भी जाकर उपनिषत्कारों ने यह सिद्धान्त स्थापित किया है कि सच्चिदानन्द ब्रह्म से भी श्रेष्ठ श्रेणी का 'निगुर्ण ब्रह्म' ही जगत का मूल है।

सखिया वा घर सबसे न्यारा, जहँ पूरन पुरुष हमारा।
जहँ नहिं सुख-दुख साँच झूठ नहिं, पाप न पुन्न पसारा॥
नहिं निर्गुण नहिं सर्गुण भाई, नहीं सूक्ष्म स्थूलं।
नहिं अच्छर नहिं अविगत भाई, ये सब जग के मूलं॥

सब अनकेताओं में वह पुरुषोत्तम परब्रह्म बँटा हुआ-सा दीखता है; परन्तु सब अनेकताओं में रहकर भी वह अविभक्त, अखण्ड और एक-ही-एक रहता है। वह प्राणियों को कर्ता, पालक और नाशक है। वही अपरोक्षता से जानने-योग्य है, वह अन्धकार से परे है और ज्योति की भी ज्योति अर्थात् ज्योति का भी प्रकाशक है। गीताजी कहती हैं कि इस अध्याय में वर्णित क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ, ज्ञाता और ज्ञेय को जाननेवाला भक्त परमात्मा के भाव को (अर्थात् व्यक्त और अव्यक्त भाव को) पानेयोग्य बनता है।

प्रकृति और पुरुष (अर्थात् जड़ और चेतन) दोनों अनादि हैं। इसको इस प्रकार भी कह सकते हैं कि दोनों प्रकृतियाँ—त्रयगुणमयी अपरा और निर्गुण परा—वा क्षर पुरुष और अक्षर पुरुष—वा असत् और सत्—अनादि हैं। विकार और गुण प्रकृति से उत्पन्न होते हैं। कार्य और कारण का हेतु (कारण) प्रकृति (महाकारण) है। कार्य (अर्थात् अनेकतामयी सृष्टि) का कारण साम्यावस्थाधारिणी मूल प्रकृति का कम्पित भागरूप विकृति प्रकृति है और इस कारण-रूप विकृति प्रकृति का हेतु या कारण साम्यावस्थाधारिणी त्रयगुणमयी मूल प्रकृति है। इसी मूल प्रकृति को 'महाकारण' कह सकेंगे। जगत का यह उपादान कारण है। पुरुष—चेतन जीव, प्रकृति से उत्पन्न होनेवाले गुणों

इनके अनादित्व के विषय में गीता, अध्याय १४, श्लोक ३ के वर्णन के स्थान पर पढ़िए।

को भोगता है, अतएव यह सुख-दुःख के भोग में कारण है। यही भोग और गुण का संग जीव के अच्छी-बुरी योनियों में जन्म लेने का कारण होता है।

शरीरस्थ जीव अकेला ही शरीर में नहीं रहता है। परमात्मा पुरुषोत्तम भी उसके साथ-ही-साथ शरीर में इस प्रकार पूर्णतः व्याप्त रहता है, जिस प्रकार वायुपूर्ण किसी घट में आकाश। परा प्रकृति वा चेतन-जीव-पुरुष, पुरुषोत्तम परमात्मा से स्थूल दशा में है और स्थूल में सूक्ष्म स्वाभाविक ही व्याप्त रहता है। त्रयगुणमयी प्रकृति को तथा पुरुष को उपर्युक्त प्रकार से अपरोक्ष ज्ञान-द्वारा जो जानता है, वह कर्तव्य कर्मों को करता रहकर भी फिर जन्म नहीं पाता है।

कोई ध्यान द्वारा कोई सांख्य-योग अर्थात् सांख्य-शास्त्र से निरूपित ज्ञान में मन-बुद्धि को डुबाए रखकर और कोई कर्मयोग द्वारा योगस्थ रहकर अर्थात् कर्तव्य कर्मों को योगस्थ रहकर करता हुआ आत्मा-द्वारा आत्मा को देखता है, तात्पर्य यह कि चेतन आत्मा-द्वारा परमात्मा का दर्शन पाता है।

जो शास्त्र पढ़कर उपर्युक्त विषयों का ज्ञान नहीं रखते हैं, वे दूसरों से सुनकर श्रद्धा से परमात्मा का भजन करके संसार से तर जाते हैं। परमात्मा-ईश्वर को सर्वत्र समभाव से रहता हुआ जो मनुष्य देखता है, वह अपघाती नहीं बनता और परम गति पाता है।

अज्ञ का कहना है कि किसी गिलास में एक ही बार गिलास भर पानी और उतनी ही मदिरा नही अँट सकती, अतएव ईश्वर नहीं, केवल जीव ही देह में है।

ये तीनों पृथक्-पृथक् साधन जाने जाते हैं, परन्तु तीनों आपस में मिले-जुले रहते हैं और श्रद्धालु भक्त भी अपने भक्ति-साधन में इन तीनों से युक्त हो जाता है। इनके वर्णन के पृथक्-पृथक् अध्यायों में ये बातें समझा दी गई हैं।

सब कर्मों को करनेवाली प्रकृति है और आत्मा अकर्ता है। जो यह देखता है, वही यथार्थ देखता है। जीवों के भिन्नत्व में जब एकत्व दीखने लगे और सब फैलाव उसी एक में होने का बोध जब हो, तब परमात्मा–ब्रह्म की प्राप्ति होती है।

जैसे सर्वव्यापी आकाश को किसी का लेप नहीं लगता, वैसे ही सर्वव्यापी आत्मा को भी। जैसे एक ही सूर्य सर्वजगत को प्रकाशित करता है, वैसे ही क्षेत्रज्ञ सब क्षेत्रों को प्रकाशित करता है अर्थात् सचेतन करके रखता है। ज्ञान-चक्षु (आत्मदृष्टि) द्वारा क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का भेद और जीव-आत्मा की मुक्ति की विधि को जो जानता है (विधि-अनुकूल साधन करता है), वह ब्रह्म–परमात्मा को पाता है।

॥ त्रयोदश अध्याय समाप्त ॥

ऐसा दर्शन केवल बौद्धिक या परोक्ष नहीं, बल्कि अपरोक्ष अर्थात प्रत्यक्ष होना चाहिए। ऐसा दर्शन तभी हो सकता है, जब चेतन आत्मा से परमात्मा का दर्शन हो।

अध्याय १४

अथ गुणत्रय विभागयोग

इस अध्याय का विषय गुणत्रय विभागयोग है।

इससे पहले के अध्याय में त्रिगुणात्मिका प्रकृति का कुछ परिचय कराने के अनन्तर त्रयगुण-विभाग का भी कथन होना ही चाहिए। इस अध्याय में उसी त्रयगुण-विभाग का तथा त्रयगुणातीत का वर्णन हुआ है। जिस उत्तम ज्ञान का अनुभव (साक्षात् होने पर का ज्ञान) पाकर मुनिगण इस लोक से परम सिद्धि पा गए हैं, उसी ज्ञान का वर्णन यहाँ किया जाता है। इस ज्ञान का सहारा लेकर परमात्मा से एकरूपता पाए हुए लोग सृष्टि के उत्पत्ति-काल में भी जन्म नहीं लेते हैं और प्रलय की व्यथा भी नहीं भोगते हैं, अर्थात् जन्म-मरण से सदा का मोक्ष पा लेते हैं।

महद्ब्रह्म अर्थात् प्रकृति परमात्मा के अधीनस्थ योनि (उत्पत्ति-स्थान) है। उसी से उनके द्वारा सारी सृष्टि उपजती है। प्रकृति-स्थित त्रयगुण अनाशी आत्मा को देह के साथ सम्बन्धित

यहाँ 'ब्रह्म' का अर्थ प्रकृति है। अध्याय ३ के श्लोक १५ में कहा गया है, कर्म 'ब्रह्म' से उत्पन्न होता है। यहाँ 'ब्रह्म' का अर्थ—लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक महाशयजी और महात्मा गाँधीजी के मतानुकूल—प्रकृति ही है।

यही विचार पुनः अध्याय १३ के श्लोक २९ में भी बताया गया है। वहाँ कहा गया है कि यथार्थतः प्रकृति ही सर्वत्र कर्म करती है।

कतिपय टीकाकार अध्याय ३, श्लोक १५ के 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ वेद लगाकर कहते हैं कि कर्म वेद से उत्पन्न हुआ है।

यहाँ सोचने की बात है कि वेद में कर्तव्याकर्तव्य की मीमांसा तथा विधि एवं कर्तव्य कर्म करने और निषिद्ध तथा अकर्तव्य कर्म छोड़ने की आज्ञा होनी चाहिए, न कि कर्म की उत्पत्ति ही वेद से होनी चाहिए।

रखता है। सत्त्वगुण ज्ञान के साथ बाँधता है; रजोगुण विषय-अनुरागी बनाता है, इससे तृष्णा और आसक्ति उपजती है और वह प्राणी को कर्म से बाँधता है। तमोगुण अज्ञान, आलस्य, निद्रा उपजाता है और मोह में डालता है। सत्त्वगुण सुख में और रजोगुण कर्म में आसक्ति उत्पन्न करता है। तमोगुण ज्ञान को ढँककर कर्तव्य-मूढ़ता और विस्मरण उत्पन्न करता है। रजोगुण और तमोगुण के दबने से सत्त्वगुण की बढ़ती होती है। सत्त्वगुण और तमोगुण के दबने से रजोगुण की बढ़ती होती है। सत्त्वगुण और रजोगुण के दबने से तमोगुण की बढ़ती होती है।

इसीलिए गो० तुलसीदासजी ने कहा है–

गनि गुन दोष वेद विलगाये।

(तुलसीकृत रामायण)

उपर्युक्त बातों पर विचार कर मैंने अध्याय ३, श्लोक १५ के 'ब्रह्म' का अर्थ प्रकृति ही ठीक माना है। इस श्लोक में यह भी कहा गया है कि ब्रह्म की उत्पत्ति अक्षर अर्थात् अनाशी परमात्मा से हुई है। अब मैं निर्णयात्मक रूप से इस सिद्धान्त पर पहुँचता हूँ कि प्रकृति परमात्मा से उपजी है। परन्तु प्रकृति के उपजने के पूर्व मायामय देश और काल नहीं थे; क्योंकि प्रकृति से ही देश और काल बनते हैं। अतएव प्रकृति उपर्युक्त देश और काल में नहीं उपजी। इसीलिए देश और काल की दृष्टि से प्रकृति अनादि है, परन्तु परमात्मा-सदृश अज यह नहीं है। निचोड़ यह है कि प्रकृति देश-काल-ज्ञान से अनादि है और उत्पत्ति-ज्ञान से सादि है। इसका आदि परमात्मा में है और परमात्मा देशकालातीत हैं।

और सन्त सुन्दरदासजी कहते हैं–

ब्रह्म तें पुरुष अरु, प्रकृति प्रगट भई।
प्रकृति तें महतत्त्व, पुनि अहंकार है॥
अहंकारहू तें तीन गुण–सत्व रज तम।
तमहू तें महाभूत, विषय पसार है॥

देह और उसके सब द्वारों में जब प्रकाश*—ब्रह्मज्योति उत्पन्न हो और ज्ञान की वृद्धि हो, तब सत्त्वगुण की वृद्धि हुई है, ऐसा जानना चाहिए। रजोगुण की वृद्धि में लोभ, संसार में फँसाव, कर्मों का आरम्भ और इच्छा का उदय होता है। तमोगुण की वृद्धि में अज्ञान, मन्दता, असावधानी और मोह उत्पन्न होता है। अपने अन्दर सत्त्वगुण की वृद्धि के काल में मृत्यु हो, तो ज्ञानियों के उत्तम लोक में गमन होता है। रजोगुण की वृद्धि में मृत्यु हो, तो कर्मों में आसक्त रहनेवालों में जन्म होता है और तमोगुण के वृद्धि-काल में मृत्यु हो, तो मूढ़ योनियों में जन्म प्राप्त होता है।

रजहू तें इन्द्री दश, पृथक पृथक भई।
सत्त्वहू तें मन आदि, देवता विचार है॥
ऐसे अनुक्रम करि, शिष्य सूँ कहत गुरु।
'सुन्दर' कहत यह, मिथ्या भ्रम-जार है॥
यह प्रकाश सबके अन्दर है ही।
चन्दा झलकै यहि घट माहीं। अन्धी आँखन सूझै नाहीं॥
यदि घट चन्दा यहि घट सूर। यहि घट बाजै अनहद तूर॥
चन्द चढ़ा कुल आलम देखै, मैं देखूँ भ्रम दूर।
हुआ प्रकाश आश गई दूजी, उगिया निर्मल नूर॥

(कबीर साहब)

घट घट अन्तरि ब्रह्मु लुकाइआ घटि घटि जोति सबाई।
बजर कपाट मुकते गुरमती निरभै ताड़ी लाई॥

(गुरु नानक)

सुषुम्ना में दृष्टि स्थिर रखने से सात्त्विकी वृत्ति रहती है और ज्योतिरूप परमात्मा की विभूति का दर्शन होता है। योगी श्रीश्यामाचरण लाहिड़ी महोदय का कथन है—

बायें इड़ा नाड़ी दक्षिणे पिंगला, रजस्तमो गुणे करितेछे खेला।
मध्ये सत्त्वगुणे सुषुम्ना विमला, घर-घर तारे सादरे॥

(योग-संगीत)

सत्कर्म का फल पवित्र और सात्त्विक होता है। राजसी कर्म का फल दु:ख होता है और तामसी कर्म का फल अज्ञान होता है।

सात्त्विकता में रहनेवाले (सुषुम्ना में वृति रखनेवाले) की ऊर्ध्वगति (ऊपर अर्थात् सुक्ष्मता में चढ़ाई) होती है; राजसी मध्य में रहते हैं और तामसी नीचे वा नरक में जाते हैं।

जिसको प्रत्यक्ष दीखने लगता है कि कर्म करनेवाला गुणों (त्रयगुणमयी प्रकृति) के अतिरिक्त अन्य नहीं है, वह गुणातीत को भी पहचानता और जानता है। और तब वह परमात्मा के भाव को अर्थात् परमात्मा से एकता को प्राप्त करता है–

जौं जल में जल पैठ न निकसे, यौं ढुरि मिला जुलाहा।

(कबीर साहब)

जल तरंग जिउ जलहि समाइया।
तिउ जोती संगि जोति मिलाइआ।।

(गुरु नानक)

सकल दृस्य निज उदर मेलि, सोबइ निद्रा तजि योगी।
सोइ हरिपद अनुभवइ परम सुख, अतिसय द्वैत वियोगी।।
सोक मोह भय हरष दिवस निसि, देस काल तहँ नाहीं।
तुलसिदास यहि दसाहीन, संलय निर्मूल न जाहीं।।

–गोस्वामी तुलसीदासजी (विनय-पत्रिका)

तथा–

जानत तुम्हहिं तुम्हइ होइ जाई।

(रामचरितमानस)

इन पद्यों के लिखने का तात्पर्य यह है कि संतों की उक्ति गीता के अनुकूल ही है, ऐसा लोगों के जानने में आवे।

अब आगे इस अध्याय में गीता बतलाती है कि उपर्युक्त परमात्म-भाव को प्राप्त कर देहधारी गुणातीत या स्थितप्रज्ञ*बन जन्म, मृत्यु और बुढ़ापे के दुःखों से छूट जाता है और मोक्ष प्राप्त करता है।

॥ चतुर्दश अध्याय समाप्त ॥

---

*श्रीमद्भागवद्गीता में गुणातीत और स्थितप्रज्ञ के लक्षण एक ही प्रकार के मिलते हैं।

अध्याय १५

अथ पुरुषोत्तमयोग

इस अध्याय में पुरुषोत्तमयोग का वर्णन किया गया है।

इस अध्याय में क्षर (सगुण) और अक्षर (निर्गुण) से परे परमात्मा के उत्तम स्वरूप–'पुरुषोत्तम' का वर्णन है। यद्यपि गुणातीत अर्थात् निर्गुण अक्षर पुरुष भी है, तथापि पुरुषोत्तम इस निर्गुण अक्षर पुरुष से उत्तम है। परमात्मा पुरुषोत्तम और अक्षर पुरुष; दोनों का पृथक्-पृथक् ज्ञान लोगों को जनाया जाय, पुरुषोत्तम पुरुष परमात्मा की उच्चता का बोध हो और अक्षर पुरुष की पुरुषोत्तम से निम्नता का बोध हो, इसी हेतु 'पुरुषोत्तमयोग' का वर्णन हुआ, ऐसा बोध होता है।

दोनों निर्गुण हैं सही, फिर भी दोनों में जो भेद है, सो तो समझाया जाना ही चाहिए। पहले कहे गए अध्यायों में यदि किसी की उपर्युक्त विषय का निर्णयात्मक रूप से यथार्थ ज्ञान नहीं हो और वह भ्रमित रहे, तो उसी के भ्रम-निवारणार्थ इस पन्द्रहवें अध्याय में 'पुरुषोत्तमयोग का कथन किया गया

इसमें कथन का आरम्भ इस तरह किया गया है कि ऊपर जड़वाला, नीचे शाखावाला, जिसका पत्ता वेद है, ऐसा एक अश्वत्थ (पीपल) वृक्ष है। इसका जाननेवाला ज्ञानी होता है। त्रयगुणों के द्वार बढ़े हुए इस वृक्ष की शाखाएँ ऊपर-नीचे ओर दूर-दूर तक सर्वत्र फैली हुई हैं। कर्मों का बंधन करनेवाली उसकी जड़ें मनुष्य-लोक में नीचे फैली हुई हैं। यह माया-वृक्ष महाअद्‌भुत है; यह पूर्ण रूप से जाना नहीं जाता है। विवेकी भक्त संसारासक्ति-विहीनता के दृढ़ शस्त्र से इस अश्वत्थ वृक्ष को काट* कर उस पद को खोज

*वृक्ष के कट जाने पर उसकी डाल, पत्ते सब सूख जाते हैं। कहा जा चुका है कि वेद इसके पत्ते हैं।

निकाले, जहाँ से पुनः कोई संसार में नहीं लौटता है। वह अपना संकल्प उस पुरातन पुरुष (पुरुषोत्तम) की ओर जाने का करे वा प्रार्थना करे कि जिसने इस पुरनी माया को विस्तार कर फैलाया है, मैं उसी आदि पुरुष की शरण हूँ।

जिसने मान, मोह और विषयासक्ति के दोषों का त्याग किया है, जो आत्मा में सदा निरत है और जो दुःख-सुख आदि द्वन्द्वों से मुक्त है, वह ज्ञानी अविनाशी पद पाता है। उस पद को सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि प्रकाशित नहीं करती है। उसमें जाकर फिर कोई नहीं लौटता है, वह परमात्मा का परम धाम है।

जीवलोक में परमात्मा का ही सनातन अंश जीव*कहलाता है। प्रकृति से बने मन और इन्द्रियों को लिए हुए जीव शरीर में रहता है और एक देह से दूसरी देह में इन मन-इन्द्रियों को संग लेता जाता है। इसका प्रभुत्व सीमित रूप से केवल उसी देह पर रहता है, जिस देह में यह रहता। इस हेतु केवल उसी देह का वह अर्थात् जीव, 'ईश्वर' उसी तरह कहा जा सकता है, जिस तरह नर+ईश्वर=नरेश्वर, किसी मनुष्य राजा को कह सकते हैं। इस तरह मनुष्य को ईश्वर कहते हैं; परन्तु उसको परमेश्वर

---

*अध्याय ७ श्लोक ५ में कह आए हैं कि जीव परमात्मा की परा प्रकृति है। अपरा अष्टधा प्रकृति से यह उच्च है अर्थात् चेतन है। (अध्याय ७ में पढ़िए) परमात्म-अंश शरीरस्थ आत्मा, परा प्रकृति–चेतन और मन-इन्द्रियादि अपरा प्रकृति के सम्मिलित रूप को जीव कहते हैं। अनादि, अनन्त, असीम परमात्मा सर्वव्यापी और ध्रुव हैं। उन्हीं की सत्ता पर चेतन ऐसा गतिशील है, जैसे आकाश में आधार पर वायु। शरीर-अन्तःकरण के आवरणस्थ परमात्म-अंश उसी तरह अपने अंशी से अभिन्न रहता है, जिस तरह घट-मठादि आवरणों में महदाकाशांश अपन अंशी से अभिन्न रहता है। चेतन जीवनी शक्ति है। अन्तःकरण-युक्त रहते हुए इसका कार्य विदित होता है। इन बातों की विशेष जानकारी के लिए 'सत्संग-योग' पढ़िए।

परमात्मा नहीं मानते हैं। इसी दृष्टि से गीता के इस अध्याय के श्लोक ८ मे जीव को ईश्वर कहा गया है और कहा गया है कि यह जीव-रूप ईश्वर जब शरीर धारण करता और छोड़ता है, तब वह मन और इन्द्रियों को उसी तरह साथ ले जाता है, जिस तरह हवा गंध को साथ ले जाती है। वह मन-इन्द्रियों के द्वारा विषयों का सेवन करता है।

इस जीव को अज्ञानी अपरोक्ष रूप से नहीं जान सकता; परन्तु आत्म-दृष्टि* रूप दिव्य चक्षुवाले ज्ञानी जन जीव को पूर्ण रूप से जानते हैं। यत्न में संलग्न योगी अपने शरीर में रहनेवाले को देखते हैं; परन्तु जिनका अन्तःकरण पवित्र नहीं है, वे अज्ञ जन अपने अन्दर यत्न करने पर भी इसे नहीं पहचान सकते हैं। सब सृष्टि में तीन पुरुष हैं–क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम।

सब नाशवानों को 'क्षर' कहते हैं। अनाशवान को 'अक्षर' कहते हैं। जो सब क्षर में स्थित और अन्तर्यामी होकर रहता है, पुरुषोत्तम इन दोनों पुरुषों से परे है, जो परमात्मा कहलाता है। वह अविनाशी सर्वेश्वर सारी सृष्टि में प्रवेश करके सबका पोषण करता है। पुरुषोत्तम के जाननेवालों को ही सर्वज्ञता होती है; क्योंकि ये जाननेवाले पुरुषोत्तम सर्वेश्वर का पूर्ण भाव से भजन करते हैं। गीता में कथन किए गए ज्ञान को जानकर मनुष्य बुद्धिमान बने और अपना जीवन सफल करे।

।। पंचदश अध्याय समाप्त ।।

---

*चेतन आत्मा पर से जड़ के सब आवरणों के हट जाने पर यह दृष्टि होती है।

अध्याय १६

अथ दैवासुर–संपद्विभागयोग

इस अध्याय का विषय दैवासुर-संपद्विभागयोग है।

अध्याय ९ में आसुरी और दैवी प्रकृतिकालों का वर्णन समास रूप से देते हुए कहा है कि परम भावमय परमात्म-स्वरूप को दैवी प्रकृतिवाले पहचान सकते हैं; परन्तु आसुरी प्रकृतिवाले उसे नहीं पहचान सकते।

उस परमात्म-स्वरूप पुरुषोत्तम का पहचानना अत्यन्त आवश्यक है; क्योंकि उसके ही पहचानने से जीवों को मोक्ष प्राप्त होता है।

अतएव यह बड़ी आवश्यकता हुई कि दैवी और आसुरी सम्पदाओं को विभागपूर्वक कुछ विस्तार से जनाया जाय, ताकि लोग अपने को आसुरी संपद् से निकालते और बचाते रहकर दैवी संपद् में दृढ़ता से अपने को रखे रहें अर्थात् अध्याय १५ में कहे गये पुरुषोत्तम को प्राप्त करने के योग्य गुणों को वे यत्न से धारण कर सकें।

दैवी सम्पदा–(१) निर्भयता, (२) अन्तःकरण की शुद्धता, (३) निष्ठा (ज्ञान और योग में निरन्तर गाढ़ स्थिति), (४) दान, (५) इन्द्रिय-निग्रह (६) यज्ञ (लोक-उपकारार्थ कर्म), (७) अध्यात्म-वाक्यों का पाठ, (८) तप, (९) सरलता, (१०) अहिंसा, (११) सत्य, (१२) अक्रोध, (१३) त्याग, (१४) शान्ति, (१५) अपिशुनता (चुगली नहीं करनी), (१६) दया, (१७) इन्द्रिय-भोग में लोभी नहीं होना, (१८) कोमलहृदयता, (१९) अयोग्य कर्म करने में लज्जा, (२०) अचंचलता, (२१) तेजस्विता, (२२) क्षमा, (२३) धृति अर्थात् धैर्य, (२४) शौच,

(२५) अद्रोह और (२६) निरभिमानिता; इन २६ उत्तम-उत्तम गणों को दैवी सम्पत्ति कहते हैं। जिनमें ये हों, वे दैवी सम्पत्तिवाले हैं।

आसुरी सम्पदा–(१) दम्भ, (२) दर्प (घमण्ड), (३) अभिमान, (४) क्रोध, (५) निष्ठुरता या कड़ाई और (६) अज्ञान–ये छह दुर्गुण आसुरी सम्पद् के हैं। ये जिनमें होते हैं, वे आसुरी सम्पद् के मनुष्य हैं। अथवा यह कहना अनुचित नहीं होगा कि दैवी सम्पत्ति के उलटे लक्षण सब आसुरी सम्पत्ति के हैं।

दैवी सम्पद् मोक्षदायक और आसुरी सम्पद् बन्धन करनेवाले हैं। इस लोक में दो प्रकार के लोग होते हैं–दैवी और आसुरी। प्रवृत्ति क्या है, निवृत्ति क्या है, आसुरी लक्षणवाले यह नहीं जानते। उन्हें पवित्रता और सदाचारिता ज्ञान नहीं होती और न वे सत्य का ही आदर करते हैं। वे कहते हैं–'जगत असत्य, निराधार और ईश्वर-रहित* है। जीव-सृष्टि केवल स्त्री-पुरुष के संयोग से हुई है। उसमें विषय ही भोगना कर्तव्य है।' ये भयानक काम करनेवाले मतिमन्द–जगत के शत्रु–दुष्टगण इस अभिप्राय को पकड़े हुए संसार-मर्यादा के नाश के लिए बढ़ते हैं। ये तृप्त न होनेवाली कामनाओं से भरपूर, पाखण्डी, मानी, मदान्ध,

---

*जो एक सर्वव्यापी और सर्वपर ईश्वर नहीं मानते, बल्कि प्रत्येक शरीरस्थ जीवात्मा को अर्थात् भिन्न-भिन्न असंख्य शरीरों की आत्मा को अनेक जानते हुए उन्हीं अनेक को पृथक्-पृथक् अनेकता में रह सारी सृष्टि में फैलकर रहने को ही उनकी सर्वव्यापकता बताकर उन अनेक को ही ईश्वर मानते हैं, वे सर्वसाधारण की दृष्टि में ईश्वरवादी अर्थात् आस्तिक बनते हैं, पर यर्थाथतः वे ईश्वरवादी वा आस्तिक कहनेयोग्य नहीं हैं–नास्तिक हैं। ईश्वर एक ही होना चाहिए, अनेक नहीं।

अशुभ निश्चयवाले, मोहवश दुष्ट इच्छाएँ ग्रहण करके संसार में फँसे रहते हैं। संसार-प्रलय तक अन्त नहीं होनेवाली, नाप-जोख से हीन चिन्ताओं का सहारा लेकर, कामों के अत्यन्त भोगी, 'भोग ही सर्वस्व है'–ऐसा निश्चयवाले, अनेक आशाओं के जाल में फँसे हुए कामी, क्रोधी, विषय-भोग के लिए अन्याय से धन-संग्रह करना चाहते हैं। इनकी इच्छाएँ बहुत होती है; ये अपने को श्रीमान, सिद्ध, बलवान और कुलीन मानते हैं। अपने समान किसी दूसरे को नहीं मानते हैं। मैं यज्ञ करूँगा, दान करूँगा, आनन्द करूँगा, एक शत्रु को तो मारा, अब दूसरे को भी मारूँगा–मूढ़त्व दशा में आसुरी सम्पत्ति के लोग ऐसा मानते हैं। ये मोह-जाल में फँस, विषय-भोग में मस्त, अशुभ नरक में पड़ते हैं। इन नीच, द्वेषी, क्रुर, अधम नरों को परमात्मा अत्यन्त आसुरी योनियों में बारम्बार डालते हैं। परमात्मा को नहीं पाकर ये और अधम गति को प्राप्त होते हैं।

काम, क्रोध ओर लोभ–ये नरक के तीन द्वार हैं। अतएव मनुष्य को चाहिए कि इन्हें त्याग दें। आत्मा को ये तीनों अत्यन्त हानि में डालते हैं। परन्तु इन तीनों से दूर रहनेवाला मनुष्य आत्मा के कल्याण का आचरण करता है और परम गति को पाता है

सद्ग्रन्थों में कही गयी विधियों को छोड़कर जो मनमाना करने लगता है, वह विषय-भोगों में डूबता है। इस तरह वह न सिद्धि पाता है, न सुख पाता है और न परम गति पाता है। अतएव सद्ग्रन्थों-द्वारा निर्णीत कर्तव्य कर्मों को जानकर कर्म करना चाहिए।

।। षोडश अध्याय समाप्त ।।

अध्याय १७

अथ श्रद्धात्रय-विभागयोग

इस अध्याय का विषय श्रद्धात्रय-विभागयोग है।

सोलहवें अध्याय में शास्त्र या सद्ग्रन्थ के अनुकूल कर्म करने का निश्चय बतलाया गया है। इसलिए प्रश्न होता है कि जो शास्त्रविधि को छोड़कर केवल श्रद्धा से ही पूजादि कर्म करते हैं, उनकी गति कैसी होनी है—सात्त्विकी, राजसी वा तामसी?

उत्तर में कहा गया है—तीनों गणों के भिन्न-भिन्न उत्कर्ष-भाववाले भिन्न-भिन्न मनुष्य सतोगुणी, रजोगुणी और तमोगुणी होते हैं। तीनों की तीन तरह की श्रद्धाएँ होती हैं। प्रत्येक कुछ-न-कुछ स्वभाव से ही श्रद्धाशील अवश्य होता है। जिसकी जैसी श्रद्धा होती है, वह वैसा ही मनुष्य होता है।

सात्त्विक लोग देवताओं को, राजस लोग यक्षों को और तामस लोग भूत-प्रेतादि को पूजते हैं। जो पाखण्डी और अहंकारी, इच्छा और विषयासक्ति में प्रेम के बल से प्रेरित हो, शास्त्रीय विधि से रहित भयंकर तप करते हैं, वे शरीर और अन्तरात्मा को भी कष्ट देते हैं। ऐसे लोग आसुरी निश्चयवाले हैं।

आहार भी गुणानुसार होते हैं और उनका भी प्रभाव आहार करनेवालों पर होता है। उसी प्रकार यज्ञ, दान और तप के लिए भी समझना चाहिए। आयुष्य, सात्त्विकता, बल, आरोग्य, सुख और रुचि बढ़ानेवाले, रसदार चिकने, पौष्टिक और मन को प्रिय—ऐसे आहार सात्त्विक लोगों को प्रिय होते हैं। चरपरे, खट्टे, विशेष लवणयुक्त, बहुत गरम* नीमवत् तीते, रूखे और

सात्त्विक आहारों में भी अल्प-अल्प छहो स्वाद होते हैं। परन्तु ये जब

दाहकारक आहार राजस लोगों को प्रिय होते हैं। रोटी, भात आदि बनकर पहर भर से पड़ा हुआ, उतरा हुआ अर्थात् सड़ने पर आया हुआ फल, दुर्गन्ध-युक्त, बासी, जूठा आदि अपवित्र आहार तामस लोगों के हैं। उन्हें ऐसे ही भोजन प्रिय लगते हैं।

वह सात्त्विक यज्ञ है, जो फल-आश से रहित, विधि पूर्वक, कर्तव्य जानकर और परोपकारार्थ खूब मन लगाकर किया जाता है। जो फलेच्छा से और दम्भ से किया जाता है, वह यज्ञ राजस है। विधि-विहीन, फलाश-त्याग नहीं, श्रद्धा नहीं, इस प्रकार के किए गए यज्ञ को तामस यज्ञ कहते हैं।

देव, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानी की पूजा, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य, अहिंसा—ये शारीरिक तप हैं। अकटु, सत्य, प्रिय और हितकर वचनों को बोलना और धर्मग्रन्थों का अभ्यास—ये वाचिक तप कहलाते हैं। मन की प्रसन्नता, सौम्यता (प्रिय स्वभावयुक्त होना), मौन, आत्म-संयम और शुद्ध भावना—ये मानसिक तप हैं। परम श्रद्धालु, फलाश-त्यागी, समत्व में रहते हुए अच्छे स्वभाव के मनुष्य उपर्युक्त तीनों प्रकार के जो तप करते हैं, उन्हें सात्त्विक तप कहते हैं। जो तप सत्कार, मान और पूजा के लिए पाखण्डपूर्वक होता है, वह राजस है। कष्टकर, दुराग्रह से किए हुए और दूसरे को दुःख देने के हेतु किए हुए तप को तामस तप कहा है।

जो दान देश, काल और पात्र का विचार कर उचित जँचने पर और बदला पाने की इच्छा छोड़कर दिया जाता है,

---

विशेष मात्रा में होते हैं, तब सात्त्विक नहीं रहते हैं। विशेष औंटा हुआ गाय का दूध, भैंस का दूध, मत्स्य, मांस और पक्षी एवं कछुए, मछली, मुर्गी आदि सब प्रकार के अण्डजों के अण्डे गुण में बहुत गर्म हैं। ये उत्तेजक और वीर्य-रक्षा के बाधक हैं। ये सात्त्विक आहार नहीं हैं।

वह सात्त्विक दान है। जो दान बदला पाने का लक्ष्य करके दुःख के साथ दिया जाता है, वह राजस दान है। देश, काल और पात्र का कुछ भी विचार न कर तिरस्कार करके अनादर से दिया हुआ दान तामस दान है। इस अध्याय के नाम का विषय-वर्णन गीता में यहीं तक है।

।। सप्तदश अध्याय समाप्त ।।

अध्याय १८

अथ संन्यासयोग

इस अन्तिम अध्याय का विषय संन्यासयोग है।

सत्रहवें अध्याय तक के ज्ञान के बाद संन्यास आश्रम का ज्ञान बताने के लिए और जो कुछ बचा, उसे भी कहने की आवश्यकता अवश्य ही है। इसीलिए यह अन्तिम अध्याय कहा गया है।

संन्यास का अर्थ त्याग भी किया जाता है; परन्तु इस अध्याय में संन्यास और त्याग के भिन्न-भिन्न रहस्य बतलाए गए हैं। इच्छा से उत्पन्न कर्मों के त्याग को 'संन्यास' और समस्त कर्मफल त्याग देने को 'त्याग' कहते हैं।

कितने विचारवान कहते हैं कि कर्म-मात्र दोषमय होने के कारण त्यागनेयोग्य हैं। दूसरे का कहना है कि यज्ञ, दान और तप-रूप कर्म त्यागनेयोग्य नहीं हैं, करनेयोग्य हैं।

त्याग तीन प्रकार के हैं। यज्ञ, दान तथा तप विवेकी को पवित्र करनेवाले हैं; परन्तु इन कर्मों को भी अनासक्ति से और फल-इच्छा त्याग* कर करना चाहिए। नियमवाले कर्मों का त्याग नहीं करना चाहिए। मोह-ग्रसित हो यदि इनको त्यागा जाय, तो वह त्याग तामस माना गया है। दुःखदायक जान काया-कष्ट के भय से कर्म का जो त्याग करता है, वह राजस त्याग है। इससे उसे त्याग का फल नहीं मिलता है। नियत वा नियमवाला कर्म करना चाहिए, ऐसा समझकर जो किया जाता है; परन्तु अनासक्ति से और फल-आश छोड़कर—वह सात्त्विक कर्म है। जो संशय-रहित

---

*यह सात्त्विक त्याग है।

हैं, शुभ भावनावाले हैं, त्यागी और बुद्धिमान हैं, वे अकुशल (अकल्याणकारी) कर्म से द्वेष नहीं करते और कुशल (कल्याणकारी) कर्म से द्वेष नहीं करते और कुशल (कल्याणकारी) कर्म में डूबे हुए भी नहीं रहते हैं। जो कर्म-फल का त्याग करता है, वह त्यागी है। देहधारियों से सम्पूर्णतः कर्म का त्याग नहीं हो सकता है। सकामी पुरुषों के कर्म के ही (१) अच्छा, (२) बुरा, (३) अच्छा-बुरा-मिश्रित; तीन प्रकार के फल मरने पर भी होते हैं। और त्यागी*पुरुषों के कर्म का फल किसी काल में नहीं होता; क्योंकि उनसे हुए कर्म यर्थाथ में कर्म ही नहीं हैं।

सम्पूर्ण कर्मों के सिद्ध होने में ये पाँच हेतु हैं–(१) क्षेत्र, (२) कर्ता, (३) अलग-अलग साधन, (४) अलग-अलग क्रियाएँ और (५) दैव अर्थात् अज्ञात; ऐसा होने पर भी जो अपने को ही कर्ता मानता है, वह अबोध है। जिसने अहंकार को तयागा है, पवित्र बुद्धिवाला है, वह कर्म करता हुआ भी कर्म-बन्धन से रहित रहता है। कर्म में प्रेरण करनेवाले ये तीन

ऐसा त्यागी, जिसे शरीर छोड़ने पर स्वर्ग आदि किसी लोक-लोकान्तर में रुकना न पड़े, उसे ब्रह्म-निर्वाण ही प्राप्त हो जाय।

भारत की स्वतंत्रता के हेतु दैव या अज्ञात कारण को लोग नहीं जानते थे। (१) क्षेत्र, (२) कर्ता, (३) अलग-अलग साधन और (४) अलग-अलग क्रियाएँ–इन चारों से लगभग पचास वर्षों से भारतवासी घोर चेष्टा कर रहे थे; परन्तु अज्ञात कारण–दैवात् कारण पीछे प्रगट हुआ, वह था द्वितीय विश्व-युद्ध। इसी को होनी अथवा प्रारब्ध भी कह सकेंगे।

स्थिर और पूर्ण त्याग केवल बुद्धि-विचार-द्वारा सम्भव नहीं है। ध्यानाभ्यास-द्वारा जो समाधि के अन्तःकरण से ऊपर उठकर रहता है, वही शरीर-भाव में उतरकर अहंकार-रहित हो कर्म कर सकता है, यथार्थ में उसी का त्याग दृढ़ और पूर्ण है।

हैं—(१) ज्ञान, (२) ज्ञेय (जानने की वस्तु) और (३) ज्ञाता (जाननेवाले)। और कर्ता, इन्द्रिय एवं क्रिया के संयोग से कर्म होता है।

गुण-भेद के अनुसार ज्ञान, कर्म और कर्ता तीन प्रकार के हैं। जिसके द्वारा सबमें एक ही अविनाशी भाव और अनेकता में एकता दरसे, वह सात्त्विक ज्ञान है। भिन्न-भिन्न में भिन्नता ही दरसे, वह राजस ज्ञान है और जो निष्कारण—तत्त्वार्थ को बिना जाने-बुझे एक ही बात में यह समझकर आसक्त रहता है कि यही सब कुछ है, वह अल्प ज्ञान तामस है।

जो अहंकार और आसक्ति-रहित है, जिसमें दृढ़ता और उत्साह है, जो सफलता-विफलता में हर्ष-शोक नहीं करता है, वह सात्त्विक कर्ता है। जो रागी (सांसारिक विषयों का प्रेमी) है, कर्म-फल-इच्छुक है, लोभी है, अपवित्र है और हर्ष-शोकवाला है, वह राजस कर्ता है। जो अव्यवस्थित, असंस्कारी, झक्की, शठ, नीच, आलसी, अप्रसन्नचित्त और दीर्घसूत्री (जो कार्य का संपादन यथोचित समय से अधिक विलम्ब लगाकर करे) है, वह तामस कर्ता है।

प्रवृत्ति, निवृत्ति, कार्य, अकार्य, भय, अभय, बन्धन और मोक्ष का भेद जो बुद्धि जानती है, वह सात्त्विकी है। जो बुद्धि धर्म-अधर्म और कार्य-अकार्य का विचार गलत ढंग से करती है, वह राजसी है। जो बुद्धि अन्धकार से घिरी हुई है, अधर्म को धर्म मानती है और सब बातें उलटी-ही-उलटी देखती है, वह तामसी है।

जिस स्थिर वा इधर-उधर नहीं भागनेवाली धृति वा धारणा से मन, प्राण और इन्द्रियों के व्यापार योग-द्वारा मनुष्य करता है, वह धृति सात्त्विक है। जिस धृति से मनुष्य फलाकांक्षी

होकर धर्म, काम और अर्थ को आसक्ति से धारण करता है, वह राजसी है। जिस धृति से दुर्बुद्धि मनुष्य निद्रा, भय, शोक, निराशा और मद को छोड़ नहीं सकता, वह तामसी है।

जिस अभ्यास से मनुष्य प्रसन्न रहता है, जिससे दुःख का अन्त होता है, जो आरम्भ में विष के समान लगता है, परन्तु फल में अमृत ऐसा होता है और जो आत्म-ज्ञान की प्रसन्नता से उत्पन्न होता है, वह सात्त्विक सुख है। विषय और इन्द्रिय के संयोग से जो आरम्भ में अमृत के समान लगता है, पर फल में विष के समान होता है, वह सुख राजस है। जो आरम्भ और फल में मोहित करनेवाला और निद्रा, आलस्य और प्रमाद से उत्पन्न हुआ है, वह तामस सुख है।

पृथ्वी और स्वर्ग में ऐसा कोई नहीं है, जो त्रयगुणों से मुक्त हो। चारो वर्णों के स्वभावज कर्म हैं। शम, दम, शौच, क्षमा, सरलता, ज्ञान, अनुभव, आस्तिकता–ये ब्राह्मण के स्वभावज कर्म हैं। शौर्य (शूर-वीरता), तेजस्विता, धैर्य, युद्ध से न भागना, दान देना और प्रभु वा शासक-भाव–ये क्षत्रियों के स्वभावज कर्म हैं। खेती, गौ-पालन और वाणिज्य–ये वैश्य के स्वभावज कर्म हैं। और परिचर्या वा सेवा-कर्म शूद्र का स्वभावज कर्म हैं। अपने-अपने स्वाभाविक कर्म में रत मनुष्य सिद्धि पाता है। ताप्पर्य यह कि अपने स्वभावानुकूल कर्म करते हुए मनुष्य मोक्ष पाने का साधन कर सकते हैं और उसे प्राप्त कर सकते हैं। मोक्ष पाने का साधन परमात्मा का भजन है। ईश्वर सब प्राणियों के हृदय में रहकर कुम्हार की तरह उन्हें चाक पर घुमाता है। (ईश्वर कर्म-फल-भोग में घुमाता है) अतएव सर्वभाव से परमात्मा–ईश्वर की शरण लेनी चाहिए। उनकी कृपा से परम शान्तिमय अमर पद की प्राप्ति होगी।

सब धर्मों को छोड़ कर परमात्मा की ही शरण लेनी चाहिए। वे सब पापों से मुक्त करेंगे। यह गूढ़ ज्ञान (गीता-ज्ञान) जो भक्तों को देगा, वह परमात्म-भक्ति-द्वारा निस्संदेह परमात्मा को पावेगा। उस ज्ञानदाता की अपेक्षा मनुष्यों में पृथ्वी पर परमात्मा को कोई अधिक प्रिय नहीं है और न होनेवाला है। जों गीता-ज्ञान का अभ्यास करेगा, वह ज्ञान-यज्ञ द्वारा परमात्मा का भजन करेगा। अध्याय ३ के ५वें श्लोक में और अध्याय १८ के ११वें श्लोक में कहा गया है कि 'प्रकृति से उत्पन्न गुण (रज, सत, तम या उत्पादक, पोषक, विनाशक) प्रत्येक से बरबस कर्म कराते हैं; कोई एक क्षण भी बिना कर्म किए नहीं रह सकता। देहधारी के लिए सम्पूर्णतः कर्म का त्याग असम्भव है।' इन बातों से विदित होता है कि देहधारियों को कर्म में लगाने के लिए त्रयगुणों का स्वाभाविक महान अधिकार है।

धर्म कर्माधीन है, अतएव त्रैगुणातीत होने पर ही सब ध र्मों से छूटा जा सकता है। अ०२, श्लोक ४५ में निस्त्रैगुण्य होने के लिए कहा भी गया है। अ०१८, श्लोक ११ में यह भी कहा गया है कि कर्म-फल का त्याग करना 'त्याग' है। यह त्याग भी केवल बौद्धिक विवेक से सम्पूर्णतः होना असम्भव है; क्योंकि कर्म-फल-प्राप्ति की इच्छा केवल विचार-ही-विचार से वैसे ही छूट नहीं सकती, जैसे सौर जगत में रहते सूर्य के प्रभाव से छूटना केवल विचार-ही-विचार से नहीं हो सकता है। मनज इच्छा-मंडल या मन मंडल से ध्यानयोग द्वारा ऊपर उठने पर मन मंडल छूटेगा, इच्छाएँ समाप्त हो जायेगी। इस तरह कर्म मंडल की इच्छा का नाश हो जाएगा या छूटेगी। निस्त्रैगुण्य वा गुणातीत होने में तो केवल विचार-ही-विचार का लवलेश मात्र भी स्थान और शक्ति नहीं है। इसके लिए तो उपर्युक्त उर्ध्वगति ही एक मात्र

ओर से छोर तक विधि है, अन्य विधि कदापि नहीं हो सकती है। चाहे सब धर्मो का त्याग कर एक परमात्मा की शरण में जाया जाय। चाहे निस्त्रैगुण्य या गुणातीत बना जाय और चाहे कर्मफल का त्याग कर शरीरधारी रहते हुए कर्मफल करते हुए कर्मफल त्यागी बनकर सच्चा योगी बना जाय–इन बातों के लिए अपने अंदर ध्यान-योग-द्वारा पहले इन्द्रियों की धाराओं को आज्ञाचक्र के केन्द्र-विन्दु में केन्द्रित करना होगा; इस प्रकार केन्द्रित होने पर सिमटाव के कारण उर्ध्वगति होगी और तब मन-मंडल और गुणों के मंडलों को पार किया जा सकेगा। ऐसा अवश्य होगा।

भक्तजन जानें कि ध्यानयोग में परमात्म-भक्ति कदापि नहीं छूटती है। इसके द्वारा भक्ति की गंभीरता में प्रवेश कर उसके अंत तक पहुँचा जाता है, जहाँ 'जानत तुम्हहिं तुम्हहिं होइ जाई।' चरितार्थ होता है। संन्यास और त्याग में यही गूढ़ रहस्य है।

।। अष्टादश अध्याय समाप्त ।।